सत्य-पथ

श्री देवराज विद्यावाचस्पति

हिरण्मय पात्र को दूर करो

★★★

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये
मन्त्र १ ... निषद् ।

...र्थ—

... का मुख चमकीलेपन से ढका हुआ
... सत्यज्ञान के प्रकाशक और
... रमात्मन ! चमकीले-
... कीजिये जिस
... सत्य-

सत्य-पथ

लेखक—

श्री देवराज विद्यावाचस्पति
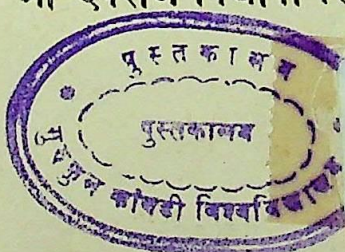
प्रथम वार १००० | चैत्र, २०११ | मूल्य आठ आना

मुद्रक :

श्री रामेश बेदी,
गुरुकुल मुद्रणालय,
गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार ।

अप्रैल, १९५५

प्रकाशक :

आर्य वानप्रस्थ आश्रम,
ज्वालापुर,
जिला सहारनपुर, उ०प्र० ।

दो शब्द

—:०:—

थोड़े पढ़े लिखे जिज्ञासु भक्त-जन जो धार्मिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक अनेक विषयों पर शङ्काएं किया करते हैं उन की असम्बद्ध एक-एक शङ्का का उत्तर देने में विद्वान् पुरुष व्यर्थ झंझट में पड़ा करते हैं। उन शङ्काओं का सम्बद्ध रूप से समाधान करने के लिए यह पुस्तक लिखी गई है। किसी प्रकार का मतमतान्तर का झगड़ा इस में नहीं है। पदार्थों के स्वरूप को दिखलाने मात्र के लिए शुद्ध वैज्ञानिक और दार्शनिक दृष्टि इस में रखी गई है। अनेक सज्जनों ने इसे पढ़ कर अपने आप को सन्तुष्ट और शङ्कारहित किया है। संसार में सब की शङ्काओं का समाधान इस से अवश्य ही हो जावेगा यह तो नहीं कहा जा सकता तो भी बहुतों को इस से लाभ हो सकेगा यह आशा अवश्य है।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के दर्शन-शास्त्र के उपाध्याय श्री नन्दलाल खन्ना, इतिहास के भूतपूर्व उपाध्याय श्री विधु भूषण दत्त और हिन्दी के उपाध्याय श्री वागीश्वर विद्यालङ्कार ने पुस्तक को उपयोगी बनाने में बहुत सहायता की है। पुस्तक के मुद्रण में श्री रामेश बेदी ने और प्रकाशन में श्री हरिप्रकाश (मन्त्री, आर्य वानप्रस्थ आश्रम) ने विशेष अभिरुचि ली है। इन सब का आभारी हूँ।

२२ चैत्र, २०११ — देवराज विद्यावाचस्पति।

विषय-सूची

	पृष्ठ
१ धर्म का स्रोत	५
२ धर्म का स्वरूप	६
३ धर्म का विकास	११
४ अधर्म क्या है ?	१२
५ धर्म और मत	१३
६ पुण्य और पाप	१५
७ कर्म का स्रोत और उस का स्वरूप	१८
८ कर्म का धर्म से सम्बन्ध	२१
९ कर्म की त्रिविध गति	२५
१० संसार की कारणता	२८
११ अद्वैत और द्वैत तत्वों की योजना	३२
१२ प्रकृति और उसका विकास	३६
१३ शक्ति और उसका विकास	४४
१४ ईश्वर का स्वरूप	४७
१५ जीवात्मा	५१
१६ सुख दुःख की उपलब्धि	५६
१७ सत्य ज्ञान	६२
१८ मिथ्या ज्ञान	६४
१९ जीवोपाधिकृत जीवात्मा	६६
२० ज्ञान का स्वरूप	६८
२१ सातत्यबल का	७५
२२ नियम	७६
२३ साम्यावस्था और विषमावस्था	८३
२४ सात्विक, राजस, तामस भेद निरूपण	९०
२५ जीवन की व्यापकता	९७
२६ आत्मा का अणु, विभु और परिच्छिन्नता सम्बन्धी विचार	१००
२७ धर्म का समाज और व्यक्ति से सम्बन्ध	१०१
२८ पुनर्जन्म	११५
२९ मुक्ति	१२४
३० मुक्ति का साधन	१२७

★

सत्य-पथ

१
धर्म का स्रोत

धर्म शब्द में 'धृञ् धारणे' धातु विद्यमान है जिसके अर्थ धारण करना, थामना, पकड़ना, संभालना और उठाना हैं। 'जो थामता है' वा 'विश्व जिसमें थमा हुआ है' वह धर्म है। सम्पूर्ण प्रजा अर्थात् उत्पत्ति (creation) जहां से निकली है जिसमें वर्तमान थी और फिर जिस आदि रूप में चली जावेगी वह धर्म है। सम्पूर्ण विश्व जिस अव्यक्त में से प्रकट हुआ, जिस अव्यक्त में वर्तमान है और जिस अव्यक्त की ओर जा रहा है वह धर्म है। महाभारत में इस भाव को इस प्रकार कहा है—

धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥

सम्पूर्ण गति शील संसार ने जिस अव्यक्त रूप में पहुंच कर दम लेना है, स्थित होना है वा रहना है वह धर्म है। जो धर्म को वा मूल को न छोड़े, सदा जिसको मूल का ध्यान बना रहे, सम्पूर्ण प्रजा, सर्व सन्तति, सारी उत्पत्ति वा परम्परा उसके अनुकूल हो जाती है, उसको प्राप्त होती है, उसके वश में रहती है। मूल में दोष होने से ही परिणाम में दोष वा पाप प्रकट

होता है। मूल को निर्दोष करने से ही परिणाम निर्दोष वा निष्पाप प्रकट होता है। इस प्रकार धर्म, आधार, मूल, कारण, प्रारम्भिक अवस्था, आदि या अव्यक्त रूप में ही यह सब कुछ वर्तमान है, उसी में सब प्रतिष्ठित है और उसी के अनुकूल अनुष्ठान होता है। जैसा जिसका धर्म या स्व-भाव (character) है वैसा ही उसका अनुष्ठान है। चूंकि धर्म में ही सब कुछ वर्तमान है इसलिए धर्म को पर-म (immeasurable) अपरिमेय कहते हैं। यह उपर्युक्त भाव नारायणोपनिषद् में इस प्रकार वर्णित है--

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा,
लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति।
धर्मेण पापमपनुदति, धर्मे सर्वं
प्रतिष्ठितं, तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति ॥

धर्म के स्रोत को दो दृष्टियों से देखा जा सकता है एक अव्यक्त प्रकृति की दृष्टि से दूसरा चेतन सत्ता की दृष्टि से। परन्तु बात एक ही है। जिस समय हम इसे अव्यक्त प्रकृति की दृष्टि से विचारते हैं तो कहते हैं कि अव्यक्त प्रकृति चेतन सत्ता के आश्रय से अपने अनन्त परिणामों को प्रकट कर रही है और जिस समय चेतन सत्ता की दृष्टि से विचारते हैं तो कहते हैं कि चेतन सत्ता प्रकृति का आश्रय लेकर अपने अनन्त सामर्थ्य को प्रकट कर रही है। सामर्थ्य और परिणाम का प्रकाश परस्पर पृथक् नहीं है किन्तु साथ-साथ है। चेतन सत्ता और प्रकृति अथवा निमित्त कारण और उपादान कारण सृष्टि

की रचना से पूर्व अभिन्न अर्थात् अपृथग्भाव से विद्यमान थे अतः सामर्थ्य और परिणाम का प्रकाश पृथक् नहीं है एक ही है। एक ही भाव को चेतन सत्ता की दृष्टि से सामर्थ्य का प्रकाश कह देते हैं और उसी को प्रकृति की दृष्टि से परिणाम का प्रकाश कह देते हैं बात एक ही है। इसलिए धर्म के स्रोत को दो दृष्टियों से देखा जा सकता है एक अव्यक्त प्रकृति की दृष्टि (objective view) से दूसरा चेतन सत्ता की दृष्टि (subjective view) से।

धर्म का विस्तृत भाव लेने से धर्म उस शक्ति का नाम ठहरता है जो ज्ञान बल और क्रिया रूप है जो इस विश्व (universe) में व्याप्त है तथा जो इसकी उत्पत्ति स्थिति और लय का कारण होती हुई इसमें नियम बद्ध संस्कार (requlated harmonious action) कर रही है। वह शक्ति जिस क्रम में परिणत हो रही है वह क्रम ही ईश्वरीय नियम (divine law) है जो ईश्वरीय इच्छा (divine will) को प्रकट कर रहा है। यह ईश्वरेच्छा ही जगत् के रूप में प्रकट होती है। पुराणसंहिता में कहा है--

> या बिभर्ति जगत्सर्वमीश्वरेच्छाह्यलौकिकी।
> सैव धर्मो हि सुभगे ! नेह कश्चन संशयः।।

ईश्वरेच्छा और ईश्वरीय नियम एक ही हैं इसी को धर्म कहते हैं। सम्पूर्ण जगत् धर्म पर स्थित है, ईश्वरीय नियम को कोई टाल नहीं सकता, जो कुछ होना है वही होता है अर्थात् जीव का उस पर कुछ अधिकार नहीं है और जो कुछ ईश्वर की

इच्छा है वही होना है इन वाक्यों का एक ही भाव है कि कार्य कारण भाव की परिणाम शृङ्खला अटूट है। मनुष्य के कार्य मनुष्य की अपनी इच्छा और ईश्वरीय नियम के संघर्ष के परिणाम हैं। इसीलिए हमें अपनी कृति पर कुछ अभिमान भी नहीं करना चाहिए क्योंकि हमारी उस कृति का प्रकाश करने वाला संघर्षण अव्यक्त रूप में पहिले ही वर्तमान होता है। जो कुछ अव्यक्त में है वही व्यक्त में आता है जो अव्यक्त में नहीं है वह व्यक्त में नहीं आ सकता तथा जो अव्यक्त में है वही व्यक्त में आ सकता है।

इस प्रकार मनुष्य को उचित है कि यदि वह सुख दुःख से परे आनन्द की अवस्था में रहना चाहता है तो धर्मानुकूल आचरण करता रहे अर्थात् आचरण के प्रकाशक संघर्षण को ईश्वरेच्छा के प्रकट करने का साधन समझता हुआ, प्रकृति के विकास को दिखलाने वाले ईश्वरीय नियम के अनुकूल रहता हुआ ईश्वरार्पण बुद्धि से आचरण करता रहे, अथवा यूं कहिये कि अपनी कृतियों में ईश्वरेच्छा को ही प्रकट करने मात्र में अपनी मनोकामना रखते हुए निष्काम भाव से सदा कार्य करता रहे। जो मनुष्य प्राकृतिक विकास को बतलाने वाले ईश्वरीय नियम के अनुकूल अपने मन, वचन और कर्म को नहीं रखता वह सदा दुःख भोगता रहता है। अतः मनुष्य को चाहिए कि प्राकृतिक विकास को पता लगा कर सदा अपने ध्यान में रक्खे और उस विकास में अपनी स्थिति की जांच करता रहे। इस को थोड़े में यूं कह सकते हैं कि मनुष्य को सदा धर्मपालन करने में ही तत्पर रहना चाहिए। प्राकृतिक विकास में अपनी स्थिति को

जांच कर भी जो स्वधर्म का पालन नहीं करते अर्थात् उसी स्थिति से अपने आपको विकास के नियमों के अनुकूल विकसित नहीं करते प्रत्युत अज्ञान से, अल्पज्ञान से वा मिथ्याज्ञान से उस विकास की अवहेलना करते हैं वे प्रतिकूलगति में पड़ कर नाना प्रकार से आन्तरिक और बाह्य दुःखों को भोगते हैं। अतः धर्म को समझ कर उसका पालन करना ही चाहिए, अन्यथा गति नहीं।

२

धर्म का स्वरूप

आप को संसार में प्राण (attraction) और अपान (repulsion) की क्रियाएं लगातार कार्य करती हुई मिलेंगी। सारी सृष्टि (creation) के जीवन में इन दो शक्तियों की समता (equilibrium) को रखने वाला धर्म ही है । प्राण शक्ति रजोगुण है, अपान तमोगुण है और इन दोनों की समभाव वाली शक्ति सत्वगुण है। प्राण शब्द से वह शक्ति अभिप्रेत है जिससे पदार्थ आकृष्ट होता है और आकर्षक के समीप आता है, उसकी सेवा करता है, उसके चारों ओर घूमने लगता है। इसी प्रकार अपान शब्द से वह शक्ति अभिप्रेत है जिससे कोई पदार्थ छोड़ा जाता है, जिससे उसकी तरफ़ से ध्यान हट जाता है, जिससे उसकी ओर आकर्षण नहीं रहता, प्रेम नहीं रहता, उसकी सेवा अनावश्यक हो जाती है, उसकी चारों ओर परिक्रमा छूट जाती है। कोई अन्य प्रबल शक्ति उस को अपनी ओर आकर्षित करती है अतः पूर्व सम्बन्ध टूट जाता

है और अव्यक्त नियम के अनुसार आकर्षक भी अन्यत्र लग जाता है।

इस प्रकार प्राण अपान शक्तियां कहीं एक दूसरे पर विजय पाती हैं, कहीं एक दूसरे की सहायक होती हैं और कहीं समभाव में विद्यमान रहती हैं। यह आकर्षण प्रत्याकर्षण वा प्राणापान की क्रिया भौतिक संसार में—रासायनिक प्रयोगों में—जैसे मिलती है वैसे ही ब्रह्माण्ड के बड़े-बड़े पिण्डों में मिलती है, सामाजिक व्यवहार में और मानसिक विचारों में भी वैसे ही पाई जाती है तथा भाषा विज्ञान में और उत्पत्ति के सिद्धान्तों में भी वैसे ही देखी जाती है। इस प्रकार कोई भी स्थान प्राण और अपान की क्रियाओं से शून्य नहीं है—सर्वत्र इन्हीं का आधिपत्य विद्यमान है। जिस प्रकार रासायनिक प्रयोगों में किसी पदार्थ की मात्रा (molecule) के तोड़े गये अणु वा अणु के तोड़े गये अलक्त्राणु (electrones) प्राणापान की गति (रासायनिक आकर्षण प्रत्याकर्षण=chemical attraction and repulsion) से बलात्कार पृथक् रक्खे गए अत्यन्त वेगवान् परिव्राट् (भ्रमणशील) होते हैं इस प्रकार संन्यासी लोग भी सामाजिक व्यावहारिक पारिवारिक और विचार सम्बन्धी संपूर्ण भेद भाव का त्याग कर के प्राणापान की गति को रोक कर किसी भी पक्ष-विपक्ष को न ले कर आकर्षण प्रत्याकर्षण के भाव को जीत कर मुक्तरूप निर्द्वन्द समवस्थित सात्विकावस्थापन्न अत्यन्त शक्तिमान् परिव्राट् हो जाते हैं। इन संन्यासी पुरुषों का ही काम है कि सम्पूर्ण जगत् में समता (equilibrium) को स्थापित करें। संन्यासी आदित्य के समान समता को स्थापित करता है

और गड़बड़ (distuibance) को दूर करता है । आदित्य स्वयं आपेक्षिक निरपेक्ष सत्तावान् हो कर पृथिवी को आकर्षित करता है और पृथिवी आदित्य के चारों ओर गति करती है और चन्द्रमा पृथिवी का परिव्रजन करता है इस प्रकार प्रत्येक अपना पद बनाए रखता है । यह सब कुछ धर्म के अर्थात् समता के सिद्धान्त पर ही अवलम्बित है ।

लोक मण्डलों में विद्यमान आकर्षण प्रत्याकर्षणों को समता में रखने वाला धर्म ही है । भौतिक विज्ञान से सिद्ध है कि सारी सृष्टि सूर्य से अणु तक उसी ईश्वरीय शक्ति वा ईश्वरीय नियम के आधार पर स्थित है जिसे धर्म कहते हैं । विश्व में जब प्राण शक्ति (attraction) का प्राबल्य रहता है तो उत्पत्ति (सृष्टि) आरम्भ होती है और जब अपान शक्ति (repulsion) का बल अधिक होता है तो विनाश (प्रलय) आरम्भ होता है । इन दोनों शक्तियों को सम रख कर वस्तु स्थिति को बनाए रखने वाला धर्म है ।

३

धर्म और विकास

यूरोप को विकास सिद्धान्त का पाठ पढ़ाने वाले डार्विन आदि महानुभावों से बहुत पूर्व भारतीय आर्य विकास सिद्धान्त के सद्रूप से परिचित थे । वे मानते थे कि जीव नाना प्रकार की क्रमिक योनियों—वनस्पति, पशु, पक्षी आदि—में से गुज़र कर मनुष्य योनि को प्राप्त हुआ है । यह ईश्वरीय नियम वा धर्म है

जो अनुन्नत अविकसित प्रारम्भिक जीवन को सचेतस् उन्नत प्राणी अर्थात् मनुष्य के रूप में लाया है और यह धर्म ही कालान्तर में उसे अधिक उन्नत अवस्था में ले जायगा।

४

अधर्म क्या है ?

पहिले बतलाया जा चुका है कि प्राण और अपान की संयुक्त अर्थात् एकात्मक शक्ति का नाम ही धर्म है। धर्म के पूर्व पक्ष के प्राबल्य से उन्नति होती है, सिद्धि होती है, बढ़ती होती है, समृद्धि आती है, मन, वचन और कर्म दृढ़ होते हैं, इस के विरुद्ध धर्म के उत्तर पक्ष की प्रबलता से अवनति, असिद्धि, घटती, दारिद्रय होता है और मन, वचन, कर्म अस्थिर, निर्बल तथा अस्पष्ट होते हैं। मनुष्य की उभयात्मक अवस्था धर्म के इसी एक सिद्धान्त पर आश्रित है, परन्तु इस संसार चक्र के पूर्वभाग (निर्माण काल) को उन्नति प्रधान होने से शक्ति के विकास क्रम में धर्म शब्द पूर्व पक्ष के लिये ही लोक में रूढ़ हो कर रह गया और उस के दूसरे पक्ष के बोध के लिये उस का विपरीत शब्द अधर्म व्यवहृत हुआ। विचार रहस्य में अधर्म की पृथक् कुछ सत्ता नहीं किन्तु धम के ही अन्तर्गत होने से वह उसी का एक रूप है। व्यावहारिक दृष्टि में एक चक्र के पूर्वार्ध का नाम धर्म और उत्तरार्ध का नाम अधर्म है। जो मनुष्य अज्ञान अल्पज्ञान वा मिथ्या ज्ञान के कारण अपने आप को समवस्थित नहीं रख सकते वे विषम अवस्थित रहने के कारण धर्माधर्म में ऊपर

नीचे चक्कर काटते रहते हैं। अतः मनुष्य को चाहिए कि धर्माधर्म के स्वरूप को समझ कर समवस्था (balance) में रह कर चक्र से ऊपर अपने आप को बनाए रक्खे, गिरे नहीं, भ्रमें नहीं।

५

धर्म और मत

जब हम धर्म और अधर्म का प्राकृतिक विकास सम्बन्धी विचार करते हैं और सम्पूर्ण व्यक्तसत्ता को धर्म की दृष्टि से ही देखते हैं तब संसार का कोई भी सम्प्रदाय वा कोई भी मनुष्य किसी भी क्षेत्र में रहता हुआ अधार्मिक नहीं कहला सकता चाहे वह बौद्ध हो वा जैन हो, मुसलमान हो वा ईसाई हो, यहूदी हो वा पार्सी हो। कोई भी सम्प्रदाय क्यों न हो यदि वह किसी उन्नतिशील, सत्यतत्पर, द्रष्टा, संस्थापक से संस्थापित हुआ है तो चाहे वह देश, काल और अवस्था के अनुसार एकदेशी क्यों न हो, है वह धर्म के अन्तर्गत ही। प्रत्येक मत एकदेशी सत्य होते हैं अतः उनके अनुयायी उसी सत्य अंश को लेकर उन की महिमा गाते रहते हैं और अन्य लोग भी जो अपने देश, काल तथा अवस्था के अनुसार भिन्न-भिन्न सम्मति वाले होते हैं वे अपनी-अपनी रुचि के अनुसार उन में से किसी मत के अनुकूल वा विरुद्ध पक्ष को लेकर अपना-अपना राग आलापने लगते हैं। कोई मनुष्य धर्म के आध्यात्मिक भाव (eternal sense) को लेकर कहते हैं कि वही धर्म माननीय

है जो अनादि सत्तावान् है, नित्य है, और ईश्वरीय ज्ञान के रूप में अव्यक्तभाव से वर्तमान है। परन्तु क्रियाक्षेत्र में आने पर उन के बड़े से बड़े कर्मकुशल पक्षपाती भी देश, काल तथा अपनी अवस्था के अनुसार विशेष प्रकार के परिवर्तन के लिए बाधित हुए बिना नहीं रहते, तथा अपनी शक्ति के अनुसार जैसे साधन मिलें उन्हीं से काम चलाने लगते हैं और वास्तविक धर्म को सर्वांश में फलीभूत न कर सकने के कारण पक्षपात में पड़ कर अपने ही कथन पर आग्रह करते हुए उसी को पुष्ट करने का हठ करते हैं और अपने मन्तव्य से च्युत होकर अन्यों के समान ही मत की कोटि में गिर कर मतवादी वा मतावलम्बी बन बैठते हैं, तथा मिथ्याज्ञान से उस मत को ही अन्य सम्प्रदायों के सामने धर्म का पद देते हुए दूसरों को धर्म का संकुचित ज्ञान दे कर धर्म से विमुख रखते हैं और इस प्रकार समाज के प्रति बड़े पाप के भागी बनते हैं। ये महानुभाव जिन के विपक्ष में बोलते हैं उनके साथ मिल किसी निर्णय पर पहुँचने के स्थान में वैमनस्य को बढ़ा कर समाज की हानि करते हैं।

इस प्रकार के सभी आचरण वा अनुष्ठान जिन्हें किसी एक सम्प्रदाय के अनुयायी धर्म के नाम से कहते हैं वे वस्तुतः निरपेक्ष सत्य न हो कर आपेक्षिक सत्य हैं। जैसा कि हम पहिले भी कह आये हैं कि ये आपेक्षिक सत्य देश, काल तथा अवस्थाओं से सीमित होते हैं। इसीलिये ये मत कहलाते हैं।

संसार में धर्म प्रचारकों की जितनी भी संस्थाएं विद्यमान हैं वे धर्म के विशेष-विशेष अङ्ग की ही प्रतिनिधि हैं। धर्म सर्वाङ्ग-पूर्ण कभी प्रकाशित नहीं होता वह अव्यक्त ही रहता है। अतः

धार्मिक क्षेत्र में कार्य करने वाली प्रत्येक संस्था को उचित है कि वह दूसरे मत को जिस का अपने से भिन्न क्षेत्र है केवल भिन्न क्षेत्र होने के कारण ही दूषित न ठहरावे किन्तु उसे अपने उद्देश्य को पूर्ण करने वाला ही समझे, क्योंकि सब सुधारकों का अन्तिम लक्ष्य स्वयं पूर्ण धार्मिक होना तथा दूसरों को भी वैसा ही बनाना है। कोई भी मत उसी समय दूषित ठहराया जा सकता है जब वह अपने मार्ग में उन्नतिशील न हो कर अवनतिशील हो जाय अथवा देश, काल और अवस्था के अनुसार अपने सामयिक रूप के पूर्ण हो चुकने पर उन्नति पथ में अगले रूप को ग्रहण करने के लिए उद्यत न हो। इस प्रकार विचार करने से जैसे धर्म के दो पार्श्व थे और दूसरे पार्श्व का नाम अधर्म निश्चय किया था इसी प्रकार धर्म के एक-देश-भूत मत के भी दो पार्श्व समझने चाहिएं और एक का नाम मत या सुमत रक्खें तो दूसरे का नाम अमत या कुमत रखना चाहिए। कोई भी सुमत कुमत हो जाता है जब वह विशेष, देश, काल तथा अवस्थाओं के अनुकूल या उपयोगी नहीं रहता। इस प्रकार धर्म और मत के रहस्य को समझ कर मनुष्यों को यथा योग्य व्यवहार करना चाहिए।

६

पुण्य और पाप

संसार में जितने भी मत प्रचलित हैं वे देश काल और अवस्था के अनुसार अपने विशेष-विशेष रूपों के लिये हुए

हैं। उन सब का प्रयोजन मनुष्यों को भिन्न-भिन्न क्षेत्र में सम रखते हुए उन्नतिशील बनाना है। प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह प्राकृतिक विकास के अन्दर अपना कर्तव्य प्रथम निश्चित करके ही कार्य में प्रवृत्त हो। कर्तव्य निश्चित करने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य अपनी प्रवृत्ति, सामर्थ्य, परिस्थिति तथा साधनों का भली प्रकार विचार कर ले। कर्तव्य का निश्चय विचारशील ज्ञानी स्वयं कर सकते हैं। जो स्वयं न कर सकें वे अन्य विचारशील ज्ञानी पुरुषों से करावें। कुछ भी हो बिना अपने जीवन का मार्ग निश्चित किए अन्धाधुन्ध चल पड़ना ठीक नहीं। जो पुरुष अपने लिए मार्ग निश्चित किए बिना संसार में जीवन व्यतीत करने लगते हैं, वे नाना प्रकार से भटकते हैं. अपनी शक्ति, धन और बल का अपव्यय करते हैं और ठोकरें खा-खाकर अन्त में आते उसी मार्ग पर हैं जिस पर उन्हें पहिले ही चलना चाहिए था।

अपने स्वभाव, गुण और कर्म के अनुसार अपने जीवन का एक पथ चुन लेना ही अपना वर्ण निश्चित करना है। मनुष्य का स्वभाव उसकी प्रवृत्ति (natural tendency) को बताता है। गुण से अभिप्राय उसकी सामर्थ्य, योग्यता, बल, शक्ति, विद्या आदि से है और कर्म से उसके कार्य करने का क्षेत्र लिया जाता है, जिन के साथ सम्बन्ध में वा संगत में होकर वह अपने को प्रकट करता है वा प्रकट कर सकता है। इस प्रकार वर्ण अर्थात् कार्य करने का पद निश्चित हो सकता है।

जो मनुष्य वृत्तियों के प्राकृतिक-विकास-सिद्धान्त के अनुसार कार्य करता है जिसके कारण वह अपनी क्रमिक उन्नति

करता हुआ अपने सम्बन्ध से दूसरों को भी उन्नत करता है वही पुण्यात्मा है क्योंकि जैसा हम पहिले वर्णन कर आये हैं उसके अनुसार वह धर्म के पथ पर ही चलता है। प्राकृतिक विकास, धर्म, स्ववर्ण और स्वधर्म का अनुसरण करना पुण्य है, श्रेय है, और इसके विपरीत प्राकृतिक लय, अधर्म, पर-वर्ण, पर-धर्म का अनुसरण करना पाप है, प्रेय है। धर्म का पालन करने से अर्थात् पुण्य-कार्य (progressive works) में लगने से मनुष्य निर्भय, उदार, महान्, समृद्ध, उन्नत, तेजस्वी, दृढ़ और बलशाली हो जाता है दूसरी ओर अधर्म का पालन करने से अर्थात् पाप-कार्य (retrogressive works) में लगने से मनुष्य डरपोक, संकुचित, अल्प, क्षीण, अवनत, निस्तेज, निर्बल और अस्थिर हो जाता है। पुण्यात्माओं में शान्ति और सुलह होती है, किन्तु पापात्माओं में अशान्ति और कलह होता है।

पुण्य से सुख और पाप से दुःख इसलिए लिखा है क्योंकि पुण्य उन्नति-पथ के अनुसरण का नाम है और पाप अवनति-पथ के अनुसरण का। लौकिक, मानसिक, व्यावहारिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि किसी क्षेत्र में भी विचार द्वारा देखें तो यही प्रतीत होगा कि ऊपर चढ़ने में सुख है, किसी विकट उलझन के सुलझने में सुख है, मेल मिलाप और मोहब्बत में सुख है। बड़े-बड़े कार्यों को संगठन के बल से एक दम कर डालने में सुख है, सुव्यवस्था बनाए रखने में सुख है। इस प्रकार किसी भी दृष्टि से विचारा जाय, प्रत्येक विषय के उभय पार्श्व में से पुण्य पार्श्व के अवलम्बन में सुख है और पाप के

अवलम्बन में दुःख है। पुण्य और पाप तथा पुण्यात्मा और पापात्मा को पहिचानने की कसौटी भी यही है कि जिस प्रकार अन्ततः सुख हो वह पुण्य और जिसे हो वह पुण्यात्मा तथा जिस प्रकार अन्ततः दुःख हो वह पाप और जिसे हो वह पापात्मा होता है। इस प्रकार पुण्य और पाप को धर्माधर्म के रूप में जान कर पुण्यात्मा बनना चाहिए पापात्मा नहीं, और सद्व्यवहार ही करना चाहिए असद्व्यवहार नहीं।

७

कर्म का स्रोत और उसका स्वरूप

सृष्टि के आधार त्रिगुणात्मक प्रकृति के वेपन (vibration) का नाम कर्म है। बीजांकुरवत् कारण कार्य भाव के रूप में यह कर्म विद्यमान है। कर्म का बीज स्वभाव है। कारण के गुण दोषों के आधार पर ही कार्य के गुण दोष हुआ करते हैं। भिन्न-भिन्न दिशाओं में वृक्ष के भिन्न-भिन्न भागों का विकास करने के लिए जितनी-जितनी शक्ति बीज में अन्तर्हित होती है उसी के अनुसार अवयवों में उसी-उसी गुण दोष को लेते हुए उस वृक्ष का विकास होता है। पिता की आदतें पुत्र में आया ही करती हैं। पुत्र की बाल्यावस्था की ही आदतें जवानी और बुढ़ापे में किसी क्षेत्र में प्रकट होती हैं। खरा या खोटा जैसा भी सुवर्ण होता है वैसा ही खरा या खोटा आभूषण बनता है। सारांश यह कि कारण की अवस्था के अनुकूल ही कार्य की अवस्था हुआ करती है। इसी प्रकार कर्म का बीज जो स्वभाव

है उसकी पवित्रता और अपवित्रता पर ही कर्म की पवित्रता वा अपवित्रता आश्रित है। विचार के द्वारा यह प्रकट है कि स्वभाव की पवित्रता से ही कर्म की पवित्रता होती हैं और कर्म की पवित्रता से प्रकृति पर आधिपत्य वा मोक्ष मिलता है। किसी कार्य को करने की जो विधि वा रीति है—जिस रीति से कार्य करने से कोई कार्य पूरा होता है—उसी रीति से उस कार्य को करने में उस रीति या कर्म की पवित्रता होती है। कार्य करने की रीति का भाव जिस प्रकार मनुष्य के चित्त में होगा उसी प्रकार से, उसकी कर्म कुशलता के अनुसार, उसका कर्म होगा। चित्त में कार्य करने के प्रकार का जो भाव है उसे चित्त-वृत्ति कहते हैं और वही उस कर्म का संस्कार अथवा सूक्ष्म-रूप है। अतः चित्तवृत्ति का स्वरूप ही संस्कार का स्वरूप है। जैसा संस्कार वा चित्तवृत्ति होगी उसी के अनुकूल उस की प्रवृत्ति होगी परन्तु प्रवृत्ति का बाह्यरूप बाह्यसाधनों से सीमित होगा। संस्कार में वा चित्तवृत्ति में जो दोष है वह उस की प्रवृत्ति में भी प्रकट होगा, अतः संस्कार की पवित्रता और अपवित्रता के आधार पर ही क्रमशः प्रवृत्ति तथा कर्म की पवित्रता और अपवित्रता होती है। प्रवृत्ति परिस्थिति के अनुकूल होगी तो फलसिद्धि होगी और प्रतिकूल होगी तो असिद्धि। सिद्धि या असिद्धि दोनों ही प्राकृतिक विकास का अनुसरण करने से होती हैं, क्योंकि प्रत्येक वस्तु अपने विकास-क्रम में जिस-जिस रूप को धारण कर रही है, करेगी वा कर सकती है, वह अगला-अगला रूप ही पूर्व-पूर्व का फल है। प्राकृतिक-विकास में उन्नति की ओर जाना धर्माचरण करना है और अवनति की ओर जाना अधर्माचरण करना है। जिस

प्रकार धर्म के दो भेद बतलाये थे एक धर्म दूसरा अधर्म, इसी प्रकार कर्म के भी दो भेद समझने चाहिएं एक सुकर्म और दूसरा दुष्कर्म, क्योंकि धर्म और अधर्म एक ही हैं और धर्म का स्वरूप पहिले ही दिखलाया जा चुका है। जिस रूप की जो अवस्था हमें इष्ट है वह अवस्था उस रूप के विकास की रेखा-विशेष में गुज़रने से ही हमें प्राप्त हो सकती है, और उस रेखा में गुज़रना या गुज़ारना ही धर्माचरण होना या करना है। जिस रीति से फल की सिद्धि होती है वह रीति प्राकृतिक-विकास के रूप में ही है, वही उन्नति पथ है, अतः वही धर्माचरण है। इसलिये यदि मनुष्य ने सुख प्राप्त करना है, अपने कार्यों में सफल होना है तो धर्म-पूर्वक कर्म करना चाहिये। धर्म-पूर्वक कर्म करने से न केवल वर्तमान काल में ही उस को फलसिद्धि होगी अर्थात् उस का इहलोक सुधरेगा प्रत्युत उस के कर्मों का जो प्रतिरूप (reflection) उस के चित्त पर पड़ेगा, जिसे चित्त उस क्रम में गुज़रता हुआ अवश्यमेव प्राप्त करेगा। उस से उस की चित्त-वृत्ति वा संस्कार भी पवित्र हो जावेंगे अर्थात् ऐसे हो जावेंगे जिन से भविष्य में भी विकासोन्मुख, धर्मपूर्वक, फलदायक, सुखप्रद, इष्ट को देने वाले कर्म हों। जैसे संस्कार होते हैं वैसे ही कर्म भी होते हैं, अतः वह इस समय के पवित्र कर्मों से अपने हृदय में उन पवित्र संस्कारों को उत्पन्न करता हुआ, जिन से वह भविष्यत् में उत्तम कर्म कर सके, अपने परलोक को भी सुधार लेगा।

इस समय जिस के जैसे संस्कार होंगे, (जिन्हें प्रारब्ध कर्म वा दैव कहते हैं, और कोई जिन्हें सञ्चित कहते हैं और

होते हुए कर्म को प्रारब्ध और होने वाले कर्म को क्रियमाण कहते हैं), वह वैसे ही कर्म करेगा और जैसे वह कर्म करेगा वैसे ही उस के संस्कार आगे बनेंगे। इस प्रकार यह कर्म-संस्कार चक्र वा वृत्ति-संस्कार-चक्र निरन्तर जारी रहता है।

कर्म वेपन (vibration) रूप है। उस वेपन रूप कर्म का एक-एक पार्श्व क्रमशः प्रवृत्ति और निवृत्ति कहलाता है। वह कम्पनात्मक (ossilation) होता है। कर्म के ये दोनों पार्श्व क्रमशः राजस और तामस हैं। प्रवृत्ति और निवृत्ति की मध्यावस्था सात्विक है। अपने चित्त को सात्विक अवस्था में रख कर कर्म करने से उन्नति होती है। ज्ञानी से ज्ञानी, मूर्ख से मूर्ख, छोटे से छोटे और बड़े से बड़े सब प्राणी इसी प्रकार कर्म की वेपनात्मक गति में निरन्तर चल रहे हैं और बार-बार उन्नति पथ पर आते हुए भी बेखबर होने के कारण (स्वयं जानबूझ कर या इच्छापूर्वक या सावधानता से पूर्वोक्त सात्विक भाव में अर्थात् उन्नति-पथ में वा धर्म-मार्ग में न आने के कारण प्रत्युत कर्म के नियम के अनुसार बल पूर्वक लाये जाने के कारण) फिर मार्ग-भ्रष्ट होकर इधर-उधर भटक जाते हैं और दुःख भोगते हैं। अतः यदि सुख प्राप्त करना है तो कर्म के उपर्युक्त त्रिविध भाव को बुद्धि पूर्वक धारण कर के, सावधान हो कर कर्म के सात्विक पथ का अनुसरण करना चाहिए।

८

कर्म का धर्म से सम्बन्ध

सम्पूर्ण उत्पत्ति, स्थिति और संहार का कार्य कर्म के द्वारा हो

रहा है। क्या सूक्ष्म और क्या स्थूल सम्पूर्ण जीवन छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा, उन्नत से उन्नत और अवनत से अवनत, तृण से पृथिवी तक, जीव से ईश्वर तक सब कर्म का खेल है। कर्म दिव्यशक्ति है। वस्तुतः ईश्वर भी कर्म के आधीन है। यह सर्व-शक्ति-सम्पन्न कर्म क्या है? कैसे इसका प्रकाश होता है? उस कर्म की शक्ति पर विजय लाभ करके किस प्रकार आत्माएं स्वतंत्रता वा मोक्ष लाभ करती हैं?

विद्वानों ने कर्म को ब्रह्म ही के रूप में बतलाया है—

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धाः बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्त्तेति नैय्यायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

वस्तुतः ईश्वरीय-शक्ति में और कर्म में कुछ भेद नहीं है। प्रत्येक पदार्थ एक तुच्छ परमाणु से लेकर इस विश्व ब्रह्माण्ड तक जितनी भी द्वन्द्वात्मक सत्ता है वह सब कर्म के ही आधीन है। अव्यक्तरूप को व्यक्तरूप में लाने का कारण कर्म ही है। कर्म ही धर्म और अधर्म को (जो सत्व और तम की पहिचान है) व्यावहारिक बनाता है। जिन अटल नित्य ईश्वरीय नियमों के अनुसार कर्म-गति प्रकट हो रही है, जिन से विपरीत कर्म-गति हो नहीं सकती, उन्हीं ईश्वरीय नियमों के अनुसार होने वाले, कर्मों में वही होता है जो होनहार है। अतः धर्म और अधर्म का जो मार्ग ईश्वरीय सत्ता में विद्यमान है वही कर्म का भी मार्ग है। इस प्रकार धर्म और अधर्म से कर्म कुछ भिन्न नहीं

है, प्रत्युत एक ही ईश्वरीय सत्ता के अव्यक्त रूप का नाम धर्म-अधर्म है और व्यक्तरूप का नाम कर्म-अकर्म है। जो कुछ अव्यक्त में होता है वही व्यक्त में आता है अतः धर्मा-धर्म के अनुसार कर्म जैसा होना होता है वैसा ही होता है। परन्तु जो कुछ होना होता है वह तभी मालूम होता है जब वह हो जाता है वा कर्म-रूप में आ जाता है। अतः धर्मा-धर्म के स्वरूप का निश्चय कर्म से होता है अन्यथा नहीं। कोई मनुष्य धार्मिक है वा अधार्मिक यह उसके कर्म से प्रकट होता है, क्योंकि धर्मा-धर्म के अनुसार कर्म के भी दो भेद हैं—एक धार्मिक कर्म और दूसरा अधार्मिक कर्म या अकर्म, अतः यदि कोई मनुष्य धार्मिक कर्म करता है तो वह धार्मिक है, उन्नति शील है, समृद्ध है, प्रसन्न है, दृढ़ है, भाग्यवान् है, और जो मनुष्य अधार्मिक कर्म करता है वह अधार्मिक है, अवनति शील है, दरिद्र है, आलसी है, उपेक्षा का स्थान है अभागा है, असहाय है। जहां धर्म है वहां अवश्य स्वतन्त्रता है, समृद्धि है, दरिद्रता का नाश है, प्रसन्नता है, सन्तोष है, बढ़ती है और जहां परतन्त्रता है, दरि-द्रता है, दुःख है, घटती है वहां अधर्म समझना चाहिए। दरिद्रता और सन्तोष इकट्ठे नहीं रह सकते। दरिद्रता का सम्बन्ध दुःख से है और समृद्धि का सम्बन्ध सुख से है। समृद्धि होते हुए यदि दुःख है तो समृद्धि नहीं है, दरिद्रता है। और दरिद्रता होते हुए भी यदि सुख है, सन्तोष है, पूर्णता है, प्रसन्नता है तो वहां दरिद्रता नहीं समझनी चाहिए, वहां समृद्धि है यह जानना चाहिए।

जैसे-जैसे मनुष्य समृद्ध होता जाता है वैसे-वैसे उसके

पीछे दुःख की मात्रा भी बढ़ती जाती है परन्तु उसके मुकाबले के लिए उसके अन्दर धार्मिक बल भी बढ़ता जाता है। जो दरिद्र पुरुष है वा दरिद्र हो रहा है उसके लिए मुकाबला करने को दुःख की मात्रा उतनी अधिक नहीं है, परन्तु अपने अन्दर धार्मिक बल न होने के कारण थोड़े दुःख से भी वह मुकाबला नहीं कर सकता। वह उसे खूब सताता है और मार डालता है। कर्म में धर्म से बल आता है, अधर्म से नहीं। कर्म करने में जितनी प्रबल इच्छा होगी उतना ही कर्म बलवान् होगा और उतना ही प्रभाव दृढ़ होगा। किसी पदार्थ की इच्छा उसकी प्रवृत्ति वा कर्म से जानी जाती है। जिस पदार्थ के विकास का जो मार्ग अव्यक्त सत्ता से जिस रूप से वर्तमान है उसी के अनुसार उसकी प्रवृत्ति वा कर्म होता है। अतः किसी पदार्थ के विकास का जो मार्ग अव्यक्त सत्ता में छिपा हुआ है उसे ही हम उस पदार्थ की इच्छा कह सकते हैं। यदि विकास का मार्ग धर्मानुकूल है तो धार्मिक इच्छा के होने से धार्मिक प्रवृत्ति वा कर्म होंगे, सुख बढ़ेगा, आनन्द-मङ्गल होगा और यदि विकास का मार्ग अधर्म रूप से है तो अधार्मिक इच्छा के होने से अधार्मिक प्रवृत्ति वा अधार्मिक कर्म होंगे, कलह, विद्वेष और दुःख दारिद्रय बढ़ेगा। इस प्रकार इच्छा को भी कर्म का अव्यक्त-रूप होने से धर्म और अधर्म के ही रूप में समझना चाहिए पृथक् नहीं। इस प्रकार यद्यपि मनुष्य जो कुछ करता है वह अपनी इच्छा के अनुकूल करता है और उसकी इच्छा भी जो कुछ होना है उसके अनुकूल, धर्म-रूप में या अधर्म-रूप में पहिले ही नियत है, तो भी जो कुछ होना है उसका पता चूंकि उसके कर्म से ही

लगेगा अतः जो कुछ होना है वह हो ही जायगा यह समझ कर पुरुषार्थ त्यागना नहीं चाहिए और इस समय सत्-प्रवृत्ति वा सत्कर्म करते हुए आगे के लिए सन्मार्ग तैयार करना चाहिए।

६
कर्म की त्रिविध गति

इस ब्रह्माण्ड में कर्म की गति तीन प्रकार की है—

१. प्रकृति सम्बन्धी सहज कर्म—जो प्रकृति के नित्य नियत रूप से होने वाले परिणाम के अनुसार उस में स्वभाव से ही वर्तमान हैं।

२. ऐश कर्म—ईश्वर सम्बन्धी हैं।

३. जैव कर्म—जीव की व्यक्ति से सम्बन्ध रखने वाले हैं।

प्राकृतिक सहज कर्म इस अनन्त रचनामय ब्रह्माण्ड की चराचरात्मक सृष्टि के आधार भूत हैं। जीव के कर्मों से कार्मिक जगत् की रचना होती है, अर्थात् सुख दुःखात्मक स्वर्ग नरक लोकों के साथ मनुष्य की विभिन्न उच्च-नीच अवस्थाओं का सम्बन्ध उत्तरोत्तर जारी रहता है, और इसी कर्म के आधार पर मनुष्य के अन्दर दैवी और आसुरी वा धार्मिक और अधार्मिक शक्तियों की परम्परा चलती रहती है।

प्राकृतिक-विकास सम्बन्धी सहज कर्म ईश्वर की इच्छा के आधीन हैं। जैसे हम संसार में देखते हैं कि मनुष्य के प्रत्येक कर्म के आधार में उस का भाव रहता है। ऐसा कोई कर्म नहीं हो सकता जिस के आधार में उस कर्म का भाव (idea) न

हो। इसी प्रकार इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड (जो कि प्रकृति का विकास है) के आधार में भी इस विकास का कोई न कोई भाव (idea) अवश्य होना चाहिए। जिस का जो भाव होता है उस की इच्छा अपने उस भाव से विपरीत नहीं होती। इस प्रकार इस ब्रह्माण्ड का जो भाव अव्यक्तसत्ता में वर्तमान है उस अव्यक्त सत्ता की इच्छा उस से विपरीत नहीं हो सकती, प्रत्युत बिलकुल वही होती है। इस प्रकार यह प्राकृतिक-विकास रूपी सहज कर्म ईश्वर की इच्छा के आधीन है। उस अव्यक्तसत्ता में जो कुछ भाव वर्तमान है वही इस ब्रह्माण्ड का आधार है। वह भाव ही इस ब्रह्माण्ड में व्यक्तरूप से चित्रित हो जाता है। वह भाव ही इस ब्रह्माण्ड का स्थिर ज्ञान (plan or design) है जो इस की अभिव्यञ्जक ज्ञानमयी चेतन-सत्ता में सदा वर्तमान रहता है। और उस ज्ञान के आधार पर ही विकास का कर्म हो रहा है। ईश्वरीय-सत्ता ज्ञानमयी है और उस भाव से भिन्न नहीं है जिस के आधार पर विकास हो रहा है किन्तु वही है। ईश्वरीय-सत्ता के आधार पर ही यह सब कुछ बन बिगड़ रहा है। इस ब्रह्माण्ड में उस ईश्वरीय-सत्ता का ही प्रकाश हो रहा है अथवा वह ईश्वरीय-सत्ता ही प्रकृति में प्रतिबिम्बित हो कर अपने आप को विकास के द्वारा प्रकट कर रही है। इस प्रकार हम किसी ढङ्ग से भी कहें सब का अर्थ एक ही है।

जीव सम्बन्धी जितना भी कर्म है वह जीव के आधीन है। सहजकर्म या प्रकृति का विकास अनेक दिशा में हुआ करता है। उस पर जीव का कुछ भी वश नहीं है। जिस क्रम से और जिस रूप से विकास होना है जीव उस को अन्यथा नहीं कर

सकता। प्राकृतिक-विकास की दिशा विशेष के अनुसरण में जीव अवश्य स्वतन्त्र है और जिस दिशा का अनुसरण जीव करता है उस दिशा में होने वाला प्राकृतिक-परिवर्तन का फल जीव को लेना ही पड़ता है, जीव उससे छूट नहीं सकता। जीव की बुद्धिमत्ता इसी में है कि जीव अपनी प्रकृति को तथा देश, काल और अवस्था को विचार कर ऐसे मार्ग का अनुसरण करे जिस में उसे अन्ततः हानि वा घाटा न उठाना पड़े, किन्तु वह लाभ में ही रहे। जो जीव इस प्रकार अपने आप को ईश्वरीय प्रेरणा के अनुसार होते हुए प्राकृतिक-परिवर्तन के आधीन रखता है और जिस प्रकार अपनी उन्नति, समृद्धि हो सके उस प्रकार उस परिवर्तन-चक्र की दिशा का अनुसरण करता है और जिस प्रकार अपनी हानि वा घाटा वा अवनति तथा कष्ट हो उस मार्ग का त्याग करता है वही जीव पुण्यात्मा, धर्मात्मा, सुखी, यशस्वी है। और जो इस से विपरीत आचरण करता है वह अधर्मात्मा है, पाप-बुद्धि है, दुःखी है और अभागा है। जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है और फल भोगने में परतन्त्र है इस प्रचलित उक्ति का अर्थ इस प्रकार समझना चाहिए।

प्रकृति-सम्बन्धी, जीव-सम्बन्धी और ईश्वर-सम्बन्धी जितना भी कर्मभेद बतलाया गया है वह सब आपेक्षिक-दृष्टि से कहा गया है वस्तुतः कर्म एक ही है। एक ही कर्म समष्टि व्यष्टि भेद से ऐश और जैव कर्म कहलाता है और वही कर्म अव्यक्त और व्यक्त भेद से ऐश और सहज वा प्राकृतिक कहलाता है तथा वही कर्म स्वाभाविक और आगन्तुक भेद से प्राकृतिक और जैव कहलाता है। जीव का कर्म प्रकृति के साथ सम्बद्ध हो कर

ही प्रकट होता है। प्रकृति के साथ बिना सम्बद्ध हुए जीव के कर्म का वही स्वरूप है जो ऐश-कर्म का है। ऐश-कर्म से ईश्वर का वह कर्म अभिप्रेत है जो प्रकृति के साथ बिना सम्बद्ध हुए ज्ञान रूप में वर्तमान है। जिस प्रकार काल के सम्बन्ध से जैव कर्म के तीन भेद हैं--एक वह कर्म जो फलरूप में आ रहा है, दूसरा जो आने को है और तीसरा जो कालान्तर में आवेगा, इसी प्रकार ऐश कर्म के भी तीन भेद हैं--एक तो वह जिस के अनुसार प्राकृतिक कर्म हो रहा है, दूसरा वह जिस के अनुसार प्राकृतिक-परिवर्तन-रूप कर्म होने वाला है और तीसरा वह जिस के अनुसार प्राकृतिक-परिवर्तन कालान्तर में होगा। इस प्रकार किसी प्रकार से भी विचारा जाय कर्म का स्वरूप परिवर्तनात्मक वा गतिरूप एक ही है तथा आपेक्षिक भेद से अनेक भेदों में विभक्त है।

१०

संसार की कारणता

मनुष्य का यह स्वभाव है कि जब उस के सामने कोई वस्तु आती है तब उस के मन में प्रश्न उठता है कि यह क्या है? कहां से आई? और कैसे आई? किसी बालक के सामने ऐसी कोई वस्तु जो उस ने पहले कभी न देखी हो और जिस में दूसरी भिन्न-भिन्न वस्तुओं के गुण धर्म पाये जाते हों जिस से कि सादृश्य और भेद ज्ञान से वह बिलकुल भिन्न-भिन्न पदार्थों के होने की कल्पना कर के आश्चर्य में पड़ जाय कि यह आग है

या पानी, तो उस के मन में एकदम प्रश्न उठेगा कि यह वस्तु (जैसी पहिले कभी नहीं देखी थी) क्या है ? कैसे बनी है ? और किस ने इसे बनाया है ? किसी बालक के पास शुद्ध तेजाब जिस की रङ्गत शुद्ध पानी की सी हो एक शुद्ध कांच की शीशी में डाल कर ले जावें तो वह उस को शुद्ध पानी समझता है, पर ज्यूं ही अंगुलि से छूता है तो वह तेजाब उसे ऐसा काटता सा है जैसे आग काटती है। अब सन्देह में पड़ जाता है कि यह वस्तु जो शीशी में पड़ी है पानी है वा आग है वा कुछ और है जिस में पानी और आग दोनों के गुण हैं ? परन्तु पानी और आग इकट्ठे रह नहीं सकते, ये एक दूसरे के विरोधी हैं। गरम पानी में जिस प्रकार आग और पानी दोनों इकट्ठे रहते हैं ऐसे इसमें मालूम नहीं पड़ते क्योंकि यह वस्तु ठण्डे पानी की तरह बिलकुल ठण्डी है इत्यादि। इस प्रकार अपने मन में संकल्प-विकल्प कर के वह बालक संशय में पड़ जाता है यह क्या वस्तु है ? कैसे बनी है ? और किसने बनाई है ?

इसी प्रकार इस संसार में जब मनुष्य पहिले ही आता है तो यहां की नानाविध द्वन्द्वमयी रचना को देख कर वह चकित होता है और इस बात की खोज में लगता है कि इन पदार्थों के इस रहस्य का कारण क्या है ? कौन इस रहस्य का आदि स्रोत है ? और वह कैसा है ? तथा किस प्रकार उस से यह रचना निकल आई ?

कः आसीत् पूर्वचितिः ।

संसार में प्रत्येक समझदार मनुष्य इस बात को जानता

है कि जितने भी इन्द्रिय -गोचर पदार्थ हैं वे सब अवयव-संयोग से उत्पन्न हुए हैं। वहां उन सब में अवयवों के संयोग करने वालों का अर्थात् निमित्त-कारण का और जिस में अवयव संयोग हुआ हो उस का अर्थात् उपादान-कारण का बोध हुआ करता है। संसार पर कारणान्वेषण के निमित्त यदि दृष्टिपात किया जाय तो परिवर्तन को देख कर एक उस वस्तु का ज्ञान होता है जिस में परिवर्तन हो रहा है और दूसरा उस का जिस के द्वारा परिवर्तन हो रहा है।

जिस के द्वारा परिवर्तन हो रहा है उसे निमित्त-कारण कहते हैं और उसी के नाम, पुरुष वा आत्मा आदि हैं तथा जिस में परिवर्तन हो रहा है उसे उपादान-कारण वा प्रकृति आदि नाम से कहते हैं। इन का विवेचन आगे कहीं किया जावेगा। यहां इतना ही दिखलाना है कि संसार कार्य-रूप है, इस का कुछ न कुछ कारण अवश्य होना चाहिये। संसार में वस्तुओं के अवयवों में बनना और बिगड़ना देखा जाता है अतः संसार कार्य है। संसार के पदार्थ जो मनुष्य की सामर्थ्य से सिद्ध नहीं हो सकते, उन में नियम् वा क्रम पाया जाता है, अतएव संसार को कार्य मानना पड़ता है। इन दोनों बातों के लिये शक्ति की और नियन्ता की आवश्यकता है। इन के विषय में विचार आगे होगा कि शक्ति और नियन्ता भिन्न हैं वा नहीं। संसार आप ही आप अनादि काल से बनता बिगड़ता चला आया है और अनन्त काल तक इसी प्रकार वर्तमान रहेगा। इस का यदि यह अर्थ समझा जाय कि बिना शक्ति के, बिना सामर्थ्य के, बिना किसी नियम के स्वयं सब कुछ हो रहा है तो

यह विचार सर्वथा अशुद्ध मानना पड़ेगा क्योंकि संसार में जब कोई नियम ही नहीं और कोई शक्ति ही नहीं तो सब वस्तुयें निश्शक्ति और नियम शून्य होंगी और ऐसी दशा में मनुष्य की इच्छा का वशीकरण वा नियन्त्रण सब पदार्थों पर होगा। जिस समय जो पदार्थ जितना अभीष्ट होगा उसी समय वह पदार्थ उतना ही प्राप्त हो जायगा क्योंकि मनुष्य की बाधिका शक्ति कोई न होगी। यदि पदार्थ अर्थात् प्रकृति का स्वभाव बिगड़ने का हो तो उसे बिगड़ते ही जाना चाहिये, उस में बनने की प्रवृत्ति न होनी चाहिये; और यदि उस का स्वभाव बनने का हो तो उसे बनते ही रहना चाहिये और बनते-बनते अर्थात् योजना होते-होते एक पिण्डमात्र रह जाना चाहिये, बिगड़ना न चाहिये। परन्तु एक ही जड़ वस्तु में बनना भी रहे और बिगड़ना भी ये विरुद्ध बातें किसी नियम को स्थिर रखने वाली किसी चेतन शक्ति के बिना स्वतन्त्र नहीं मानी जा सकतीं, क्योंकि चेतना के बिना जड़ वस्तु के कार्य-व्यवहार में भेद नहीं आ सकता।

> कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
> वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः॥
>
> कुसुमाञ्जलिः॥

अतः संसार का कारण अवश्य किसी चेतन सत्ता को मानना चाहिये। इस के अतिरिक्त एक यह भी बात है कि जैसे किसी पदार्थ का विश्लेषण करते-करते और उस की कारण परम्परा की खोज में चलते-चलते एक जड़ कारण का, जिस को प्रकृति कहते हैं पता लगता है; और प्रकट होता है कि उस एक

जड़ सत्ता से ही सम्पूर्ण पदार्थों की रचना हुई है, इसी प्रकार इसी परम्परा की खोज में चलते-चलते सब पदार्थों के भिन्न-भिन्न रूपों का स्रोत जैसे वह जड़ सत्ता प्रकट होती है वैसे ही प्रत्येक पदार्थ के परिवर्तमान प्रत्येक रूप के साथ-साथ कोई गुप्त सहवर्तिनी शक्ति रूपी चेतन सत्ता भी है ऐसा प्रकट होता है जो सत्ता उस पदार्थ का प्रति क्षण परिवर्तन कर रही है। उस चेतन सत्ता का भी एक आदि स्रोत मानना पड़ता है। अतः इस संसार की कारणता में एक चेतन सत्ता और दूसरी जड़ सत्ता इन दोनों का ही किसी एक महा-सत्ता में अपृथग्भाव समझना चाहिये।

जो कर्म से संसार का परिवर्तन चक्र मानते हैं, उन्हें जानना चाहिए कि कर्म भी बिना शक्ति के नहीं होता, अतः परिवर्तन रूप से वर्तमान संसार के कर्म में भी कारण जगत् में वर्तमान एक शक्ति गुप्त सहवर्तिनी है ऐसा समझना चाहिए। अतः केवल कर्म ही कारण नही है। इस प्रकार विचार करते-करते प्रतीत होता है कि संसार का कोई न कोई कारण अवश्य है यह निष्कारण नहीं है।

११

अद्वैत और द्वैत तत्वों की योजना

इस विश्व में प्रत्येक पदार्थ अपनी सहवर्तिनी चेतनशक्ति द्वारा अव्यक्त से व्यक्त और व्यक्त से अव्यक्त रूप धारण करता हुआ प्रतीत हो रहा है। सृष्टि रचना के लिए, इस वृत्ति चक्र के नियमानुसार अव्यक्त महासत्ता में जिस समय स्व-भाव या अहं-

भाव व्यक्त हुआ तो उस अव्यक्त महासत्ता की भावात्मक एक-सत्ता में विक्षोभ उत्पन्न हुआ जिस के कारण उस अद्वैत में द्वैत प्रकाशित हुआ। जो जाग्रत भाव है वही चेतन सत्ता है और जो सुप्तभाव है वही जड़ सत्ता है। ये जाग्रत् भाव और सुप्तभाव अथवा चेतन और जड़सत्ताएं अपने-अपने अभिप्रायों को, प्रयोजनों को वा अर्थों को सिद्ध करने के लिए स्व-भाव से एक दूसरे की साधक बाधक होती हुईं भी केवल अपने-अपने कर्मों के लिए सापेक्ष हैं, अतः परस्पर अपना सम्बन्ध करती हैं। पारस्परिक सम्बन्धों के बार-बार बनने और बिगड़ने से अल्प-अल्प देश में वा छोटे-छोटे रूपों में अर्थात् व्यष्टियों में उभय-सत्ताओं का विभाग होने लगता है। ज्यों-ज्यों सत्ताओं का विभाग होता जाता है त्यों-त्यों जड़सत्ता संकुचित होती चली जाती है और चेतन सत्ता भी अनन्त भावों में विभक्त होती हुई जड़सत्ता के अनन्त छोटे-छोटे क्षुद्र अंशों के साथ सम्बद्ध हो कर जड़सत्ता के अति स्थूल रूपों में ऐसी सहवर्तिनी हो जाती है जैसी अव्यक्त महासत्ता प्रारम्भिक अविक्षुब्ध अवस्था में अप्रतर्क्य अविज्ञेय तथा सर्वत्र प्रसुप्त समान थी। इस प्रकार जड़सत्ता और चेतनसत्ता अधिकाधिक अपना प्रयोजन सिद्ध करने को ज्यों-ज्यों एक दूसरे से सम्बन्ध करती हैं त्यों-त्यों अधिकाधिक स्थूलता को और सूक्ष्मता को धीरे-धीरे वा क्रमशः प्राप्त होती जाती हैं और इसी प्रकार रूपान्तरित होती हुई उसी अव्यक्त महासत्ता के स्वरूप में अद्वैतमय हो जाती हैं। इसी अद्वैत, अव्यक्त, महासत्ता को परब्रह्म कहते हैं। इसी अद्वैत, अव्यक्त, महासत्ता में जड़ चेतन रूप उभयसत्ताएं, जिन से यह विश्व-

रचना प्रसूत होती है, एक भाव से रहती हैं, अतएव वह महा-सत्ता, निमित्त और उपादान कारणों के एक ही रूप में रहने के कारण अभिन्न निमित्तोपादान कारण कहलाती है।

अद्वैत सत्ता से चेतन सत्ता और जड़सत्ता प्रकट होती हैं जिन को शक्ति और प्रकृति वा energy and matter भी कहते हैं। कई विचारकों और वैज्ञानिकों का मत है कि प्रकृति वा matter शक्ति के रूप में परिवर्तित हो जाता है वा शक्ति ही संघटित हो कर प्रकृति वा matter के रूप में प्रकट होती जाती है। इस का यह स्वाभाविक परिणाम निकलता है कि शक्ति वा energy प्रकृति वा matter के बिना भी उससे पृथक् परनिरपेक्ष स्वसत्ता से रह सकती है। इस के विषय में १६२१ ईस्वी सन् के जनवरी मास के विज्ञान पत्र के १६१ पृष्ठ पर से कुछ उद्धरण देना पर्याप्त होगा जिस से स्पष्ट हो जायगा कि शक्ति प्रकृति से अलग हो कर भी रह सकती है और विज्ञान इन दोनों की एकता को प्रमाणित करने के लिए बढ़ रहा है। वहां लिखा है—

"प्रसिद्ध क्यूरी युगल के रेडियम के प्राप्त करते ही मानो नये युग का आविर्भाव हो गया। तुरन्त ही 'शक्ति का अमरत्व' (conservation of energy) और 'पदार्थ का अमरत्व' (conservation of matter) नामक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में भय उत्पन्न होने लगा कि ये दोनों कहीं लीन न हो जायं। प्रचुर विचार और प्रायोगिक खोज के अनन्तर अब यह निश्चय सा जान पड़ता है कि विद्युत् और प्रकृति (matter) में कुछ भेद नहीं है और सभी पदार्थ एक ही सत्ता से बने हैं। परमाणु

के विषय में भी यही जान पड़ता है कि परमाणु एक केन्द्र (neucleus) पर बना है जो पदार्थमय (matterrial) है और एक या अधिक विद्युत्कण (electrons) भी उसके साथ सम्मिलित हैं जो विद्युत्रूप हैं।

रेडियम की क्रिया को यह मान कर सहज ही में समझ सकते हैं कि विद्युत्कण पदार्थ से अलग हो कर विशेष अवस्था में इतस्ततः आ जा सकते हैं।"

अद्वैत अवस्थामय एक ही महासत्ता में से द्वैत अवस्था में शक्ति और प्रकृति प्रकट होती है। उन में से शक्ति का ही नाम ईश्वर है और प्रकृति उस का कार्यक्षेत्र है। शक्ति का प्रकृति पर प्रभुत्व है इसीलिए शक्ति को ईश्वर कहा है। शक्ति और प्रकृति के पूर्वोक्त अद्वैतरूप को शक्तिमान् कहते हैं क्योंकि उस में कोई भेदभाव नहीं होता। शक्तिमान् तो वह रूप वा अवस्था भी है जिस में शक्ति प्रकृति के साथ कार्यक्षेत्र में उतर कर सहयोग देती है, परन्तु अद्वैत अवस्था में सर्वथा भेद न होने से वह सर्वशक्तिमान् है।

अद्वैत अवस्था के एकतत्व का और द्वैत अवस्था के दोनों तत्वों का पृथक्-पृथक् ब्रह्म नाम भी है क्योंकि उन में आगे बढ़ने की, विकसित होने की, अव्यक्त से व्यक्त रूप में होने की ओर झुकाव है।

इस प्रकार अद्वैत अवस्था का विचार कर के अब द्वैत तत्वों में से प्रकृति तत्व का परिणाम कैसे होता है और उस प्रकृति तत्व की क्या अवस्था होती है यह पश्चात् दिखाया जायगा।

१२

प्रकृति और उसका विकास

(१)

जिस समय अद्वैत महासत्ता से चेतनसत्ता और जड़सत्ता की अभिव्यक्ति हो चुकती है उस समय जड़सत्ता जिसको प्रकृति कहते हैं उसमें चेतनसत्ता के सम्बन्ध से परिणाम होना आरम्भ हो जाता है। वह चेतनसत्ता जो प्रकृति के साथ सम्बद्ध होकर परिणाम उत्पन्न करती है शक्ति कहलाती है और कार्य क्षेत्र में आने पर इसका नाम ईश्वर हो जाता है। जब प्रकृति के साथ ईश्वर का सम्बन्ध होता है तब प्रकृति सात्विकी अवस्था में होती है। प्रकृति के विकासोन्मुख होने से वह प्रकाशमयी द्वन्द्वरहिता अतएव लघ्वी सर्वाधारा अतएव इष्टा सात्विकी अवस्था स्थिर नहीं रह सकती। पूर्वोक्त सात्विकी अवस्था में प्रकृति के साथ ईश्वर का सम्बन्ध रहता है। इसी अवस्था में प्रकृति के अन्दर चिच्छक्ति का प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण अथवा चिच्छक्ति और प्रकृति के परस्पर समीप में रहने मात्र से उपकार करने के कारण अर्थात् उसमें परिणाम उत्पन्न करने के कारण वही सात्विकी अवस्था राजसी अवस्था में बदल जाती है। इस अवस्था में क्रिया प्रथम-प्रथम ही प्रारम्भ होती है अतः इसे चला अवस्था कहते हैं। क्रिया प्रतिक्रिया वा संकोच विकास के नियम से वही राजसी अवस्था पीछे लौट कर तामसी अवस्था के रूप में बदल जाती है। यह अवस्था आगे बढ़ने के स्थान में पीछे को लौटने से वा नीचे गिरने से गुरु कहलाती है और ज्ञान

वा प्रकाश का तिरोभाव अर्थात् आच्छादन करने वाली होने के कारण इसी को वरणक वा आवरण कहते हैं। यही तामसी अवस्था पुनः चित्सान्निध्य से उद्यमन करती है, आगे बढ़ती है या विकासोन्मुख होती है इसलिए भी इसे गुरु कह सकते हैं और चित्सान्निध्य से चित्प्रतिबिम्ब को अर्थात् चिच्छक्ति के प्रभाव को स्वीकार करती है इस लिए इसे वरणक कह सकते हैं।

द्वैत सत्ता के होते ही चिच्छक्ति से पृथक् जो जड़सत्ता थी वह यही तमोरूपा अवस्था थी जिसने चिच्छक्ति का आश्रय लेकर अपना त्रिगुणात्मक भाव प्रकट किया। यह प्रकृति की आदिम तमोमयी अवस्था है जिसको वेद में इस प्रकार बतलाया है—

तमः आसीत् तमसागूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाऽजायतैकम्॥

मनु ने भी कहा है—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥

अर्थात् यह तमोरूप में वर्तमान था इससे अधिक इसका कुछ पता नहीं क्योंकि उसमें कोई चिन्ह भी प्रकट न था जिससे वह जाना जा सकता।

जड़सत्ता के साथ सम्बद्ध होकर ईश्वर कहलाने वाली चेतनसत्ता जिस समय जड़सत्ता में विक्षोभ उत्पन्न करती है उस

समय इस क्रियाशीलता के अविर्भाव से उस जड़सत्ता में रजो-मात्रा का अविर्भाव होता है। चेतनसत्ता से उत्पन्न हुई रजोमात्रा की बाधिका, जड़सत्ता में रहने वाली तमोमात्रा भी तभी प्रकट हो जाती है जब रजोमात्रा प्रकट होती है। जब रजोमात्रा और तमोमात्रा एक दूसरे की बाधिका नहीं होतीं अर्थात् जब क्रिया-शीलता स्थितिशीलता के आश्रय से समता में रहती हुई उत्पत्ति-क्रम को आरम्भ करती है तभी सत्वमात्रा का प्रकाश समझना चाहिए। इस प्रकार त्रिगुणातीत सत्ता से त्रिगुणात्मक सत्ता का सत्व और प्रकाश रूप में अविर्भाव होता है। रज और तम भी क्रिया और स्थिति रूप में प्रकट होते हैं।

प्रकृति की विकासोन्मुख अवस्था होने पर जब विकास अपनी अन्तिम सीमा तक जा पहुंचता है तो वही सहवर्तिनी चितिशक्ति विकसित जड़सत्ता में उलटी क्रिया वा लय क्रिया को आरम्भ कर देती है। जिस तमोगुण के रजोगुण पर विजय पा लेने से विकास अपनी अन्तिम अवस्था तक पहुंचा था उस तमोगुण पर अब रजोगुण की प्रबलता होनी आरम्भ हो जाती है और जड़सत्ता का जो विकसित रूप है उसमें विघटन आरम्भ हो जाता है। विघटन क्रिया के प्रबल-रूप से जारी रहने के कारण यह विघटन ऐसी अवस्था में पहुंच जाता है कि जिसके आगे अधिक विघटन हो नहीं सकता। उस अवस्था में रजो-मात्रा का कार्य समाप्त हो चुकने से रजोमात्रा शान्त हो जाती है। प्रकाश वा व्यक्त अवस्था न रहने के कारण सत्वगुण भी शान्त हो जाता है, केवल तमोमात्रा अत्यन्त विच्छिन्न भाव में वर्तमान रहती है। तमोमात्रा के जो भी लक्षण जड़ता, स्थिरता,

गुरुता आदि इस कार्य जगत् में पाये जाते हैं वे सब भी अन्य उभय मात्राओं पर ही आश्रित रहते हैं। अतः जब अन्य दोनों मात्रायें शान्त हो जाती हैं तो आश्रयभूत भावों के न रहने से यह तमामात्रा किन लक्षणों से युक्त हो कर रहती है यह कहा नहीं जा सकता। इस अवस्था में तीनों मात्राएं एक दूसरे की बाधा से रहित हो कर सम अवस्था में आई हुई होती हैं। तीनों मात्राओं की इसी सम अवस्था का नाम अव्यक्त या प्रकृति है। यह जड़ सत्ता है जो चेतन सत्ता के साथ एक हो कर अद्वैत भाव को पहुँचती है।

(२)

जिस समय जड़सत्ता (जिस के प्रकृति और वस्तुतत्व भी नाम हैं) विकासोन्मुख अवस्था में त्रिभाव में वर्तमान होती है उस समय ये तीनों भाव (जिन के मिलने पर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड संघटित होता है) तीन अवस्था विशेषों के रूप में होते हैं उन की अवस्था को पृथक्-पृथक् सूचित करने के लिये उन्हें क्रमशः तीन नाम सत्व रज और तम दिये जाते हैं। इन सत्व रज और तम का अपना स्वरूप वही है जो जड़सत्ता वा वस्तुतत्व का है जिस से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड बना है। इस प्रकार इन को गुण कहने के स्थान में द्रव्य ही कहना चाहिये। यहां पर यह बतला देना आवश्यक है कि ये तीनों गुण कहे जाने पर भी वैशेषिक दर्शनोक्त मृदु कठिन, तरल सान्द्र, शीत उष्ण प्रभृति गुणों से भिन्न हैं किन्तु गुणों के आश्रयीभूत द्रव्य पदार्थ हैं। जैसे तीन गुण (तार-रज्जु) मिलाने से एक रज्जु बन जाती है उसी प्रकार तीनों गुणों के मिलने पर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड सङ्घटित होता है।

सम्भव है कि इसी अभिप्राय को ले कर सत्वादि तीनों द्रव्य गुण नाम से कहे गये हों।

जब तमोरूपा प्रकृति में चेतन सत्ता के सान्निध्य से विक्षोभ उत्पन्न होता है तब जड़ सत्तान्तर्गत रजोगुण का प्रादुर्भाव होता है और जब वह रजोगुण तमोगुण के साथ तुल्य-मात्रा में तथा सहायक रूप में मिलता है और क्रिया उत्पन्न करता है उस समय प्रकृति में सत्वगुण का प्रकाश होता है। इस सत्वगुण के प्रकाश को महत् गुण वा बुद्धिगुण का प्रादुर्भाव भी कह सकते हैं। प्रकृति में उत्पन्न होने वाले इस गुण को अचेतन वा अस्वयं वेद्य बुद्धि (अपने आप को ज्ञात न होने वाली बुद्धि) कह सकते हैं। पश्चात् धीरे-धीरे सत्वगुण की प्रधानता में जब रजोगुण की अनुगति होती है तब पृथक्ता के आधारभूत अहङ्कार गुण का प्रादुर्भाव होता है। अहङ्कार गुण का प्रादुर्भाव होते ही अत्यन्त सन्निकृष्ट अतिसूक्ष्म-बिन्दु-समूह-रूपेण प्रसृत स्पन्दरूपेण वर्तमान बुद्धिगुण के आधारभूत आकाश के बिन्दुरूप अवयवों में परस्पर आकर्षण हो कर द्वन्द्वात्मक 'यौगिक' उत्पन्न होते हैं। यौगिकों के बनने की यह अवस्था ही वायुतन्मात्रा कहलाती है। जब इस प्रकार ध्रुवों को बनाती हुई दो शक्तियां प्रतितुलित होती हैं तो किसी अन्य बाधक कारण के उपस्थित न होने पर उनमें चाक्रिक गति आरंभ हो जाती है और वृत्तों के आकार में वायुतन्मात्रा प्रकट होती है। इन ध्रुवीय बिन्दुओं के बीच में वा वृत्त के केन्द्र स्थान पर एक ऐसा बिन्दु रहता है जिस में धन ऋण मिश्रित उभयात्मक अवस्था शून्य-रूप में वा गर्भित (potential) रूप में रहती हैं। इस केंद्रस्थ

बिन्दु और परिधिस्थ उभयबिन्दुओं के सम्बन्ध से त्रिभुजाकार तेजोमात्रा उत्पन्न होती है। इन त्रिभुजाकृतियों के आधार-बिन्दुओं के कारण जब केन्द्रस्थ-बिन्दु की गर्भित-शक्ति विभक्त हो जाती है तब वह अपने विरुद्ध-ध्रुव-आधारस्थ-बिन्दुओं की ओर झुक जाने से चाप की आकृति बना लेती है। इस प्रकार झुकाव के कारण चापीय आकृति का बनना ही जलीय तन्मात्रा की उत्पत्ति को सूचित करता है। इस जलीय तन्मात्रा के दोनों चापों के चारों ध्रुवीय बिन्दु अपने विरुद्ध पार्श्वों के साथ प्रतितुलित हो कर वर्गाकृति को पैदा करते हैं जो पृथिवी तन्मात्रा की उत्पत्ति के बोधक हैं। जलीय तन्मात्रा के चापों की भिन्न-भिन्न स्थिति के अनुसार उन से पञ्चकोण, षट्कोण आदि आकारों के रूप में भी पृथिवी तन्मात्रा प्रकट होती है। अन्त को विस्तार होते-होते जब पृथिवी तन्मात्रा की संगठन शक्ति टूटने लगती है तो वह पृथिवी तन्मात्रा जिस आकार में भी होती है उसी के अनुसार कभी चापों के रूप में बदल जाती है अर्थात् जलीय तन्मात्रा में और कभी त्रिभुजों में बदल कर तेजोमात्रा में और कभी वृत्त में बदल कर वायु-तन्मात्रा में बदल जाती है और पश्चात् आकाशीय बिन्दु में हो कर प्रकृति का रूप धारण करती है। प्रकृति में ज्यों ही स्पन्द आरम्भ होता है त्यों ही आकाश-तन्मात्रा की वा शब्द-तन्मात्रा की उत्पत्ति होने लगती है। बिन्दुओं के परस्पर सन्निधि में आने से स्पर्श-तन्मात्रा की उत्पत्ति समझनी चाहिये। जब त्रिभुजाकार आकृतियां उत्पन्न होती हैं तब आकृति विशेष के उत्पन्न होने से रूप-तन्मात्रा उत्पन्न होती हैं जो तेजस्तत्व का लक्षण है। त्रिभुजाकृति से इस

तेजस्तत्व के सम्बन्ध में यह भी सूचित होता है कि इस में फाड़ने का गुण है। जल तन्मात्रा के चिह्न चापाकृति से रस-मात्रा वा गुण का प्रादुर्भाव तथा नम्रता (modesty) झुकना (humbleness) तथा बहने आदि के भाव भी सूचित होते हैं। चतुर्भुजादि आकृति से पृथिवी तन्मात्रा के विषय में फैलाव, विस्तार सूचित होता है तथा शक्ति के तिरोभूत होने से गन्धन से अर्थात् शक्ति के मर जाने से गन्धमात्रा वा गुण का बोध होता है।

पृथिवी के इस चतुष्कोण चिह्न के विचार को ले कर संसार में पृथिवी की चतुष्कोणता का भाव प्रचलित हुआ हो इस में कुछ आश्चर्य नहीं है। परन्तु जिस आध्यात्मिक वा आधि-दैविक तत्व को ले कर पृथिवी का चौकोर होना समझा गया था उस को छोड़ कर मूर्खों ने इस भूगोल को चतुष्कोण कहना शुरू कर दिया, जो नाना प्रकार से धर्म और विज्ञान के परस्पर विरोध और झगड़े का कारण हो गया। वस्तुतः पृथिवी को चतुष्कोण कहने वालों का अभिप्राय इस भूगोल को चौकोर कहने से नहीं है प्रत्युत अन्तर्दृष्टि (introspection) से ज्ञात पृथिवी-तन्मात्रा के चतुष्कोण चिह्न को बताने से है। इस प्रकार धर्म और विज्ञान में कुछ विरोध प्रतीत नहीं होता, क्योंकि दोनों के कथन का विषय ही भिन्न-भिन्न है और विरोध सर्वदा एक विषय को ले कर हुआ करता है, भिन्न-भिन्न विषय को ले कर नहीं।

(३)

पञ्चतन्मात्राओं की उत्पत्ति के अनन्तर उन का पञ्ची-

करण हो कर पंचमहाभूतों की उत्पत्ति होती है । पंचमहाभूतों में से प्रत्येक सत्व, रज और तम भेद से तीन-तीन प्रकार का है । उत्पत्ति की दृष्टि से पंचमहाभूतों का क्रम आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी इस प्रकार है । इन के सत्व प्रधान अंशों से पृथक्-पृथक् पंच ज्ञानेन्द्रियां (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, नासिका) उत्पन्न होती हैं और इन में सत्व समष्टि (पांचों पंचतन्मात्राओं के सत्व अंशों के मेल) से अन्तःकरण (बुद्धि, अहङ्कार, चित्त, मन) बनता है । इसी प्रकार रजः प्रधान अंशों से पृथक्-पृथक् वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ पांच कर्मेन्द्रियां उत्पन्न होती है और रजः समष्टि से पंचप्राण (समान, व्यान, उदान, प्राण और अपान) उत्पन्न होते हैं । पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय, पंचप्राण और मन बुध्यात्मक अन्तः करण मिल कर सूक्ष्म शरीर वा लिङ्ग शरीर कहाता है । पंचप्राण को प्राणमय कोष कहते हैं । पंचज्ञानेन्द्रियों और पंचकर्मेन्द्रियों के साथ मन को मनोमय कोष कहते हैं । बुद्धि को विज्ञानमय कोष कहते हैं । तमः प्रधान तत्वों से बना हुआ स्थूल देह अन्नमय कोष कहाता है । भोगायतन सृष्टि की उत्पत्ति में तमः प्रधान तत्वों के विविध आकर्षण से परमाणुओं की उत्पत्ति होती है । ६० परमाणुओं के उसी प्रकार आकर्षण से अणु और दो अणुओं के योग से द्व्यणुक तथा तीन द्व्यणुकों के योग से एक त्रसरेणु बनता है । इस त्रसरेणु को हम स्थूल चक्षुओं से देखते हैं । इन त्रसरेणुओं के नानाविध योग से भोगाययन सृष्टि बनती और बिगड़ती रहती है ।

इन कोषों को इङ्गलिश भाषा में इस प्रकार कह सकते हैं—

आनन्दमय कोष	=	region of bliss.
विज्ञानमय कोष	=	region of knowledge.
प्राणमय कोष	=	vital region.
मनोमय कोष	=	conscious region.
अन्नमय कोष	=	gross body.
	=	region of material constituent.

१३

शक्ति और उसका विकास

प्रकृति का विकास जैसा पहिले दिखाया गया है उसके अनुसार ब्रह्माण्ड में जिस प्रकार कार्य हो रहा है ठीक उसके अनुरूप इस ब्रह्माण्ड के एक-एक खण्ड में कार्य हो रहा है। किसी खण्ड में चेतनसत्ता का अधिक प्रादुर्भाव है, और किसी में जड़सत्ता का। जहां चेतन सत्ता के कार्यों का विभाग भिन्न-भिन्न अंगों के द्वारा जितना अधिक प्रकट है, वहां चेतनसत्ता उतनी ही अधिक जागृत है, और इस ब्रह्माण्ड का वह खण्ड उतना ही अधिक शक्तिमान् है। चेतनसत्ता के पूर्ण विकास की ओर झुकाव के अनुपात में ही शक्ति हुआ करती है। जहां जितना चेतनसत्ता का विकास है, वहां उतनी ही शक्ति है। शक्ति के विकास करने का नाम सभ्यता है। जीवन की उच्चता वा सभ्यता शक्ति के विकास के साथ-साथ होती है। जहां शक्ति का विकास नहीं, वहां जीवन की उच्चता नहीं, वहां असभ्यता

है। यदि हम चाहते हैं कि हमारा जीवन उच्च हो, हम सभ्य बनें, तो हमें सब प्रकार की शक्तियों को दिखलाने में समर्थ होना चाहिए। ईश्वर जो पूर्ण शक्तिमान् है उस से किसी का जीवन उच्च नहीं, अतः उस से बढ़ कर कोई सभ्य भी नहीं है। उस के किसी-किसी अंश को ले कर हम अपने आप को पूर्ण शक्तिशाली और पूर्ण सभ्य समझने लगते हैं। वस्तुतः जब तक हमारा ईश्वर से योग न हो वा हम ईश्वर में अन्तर्मिलित हो कर एक न हो जावें, तब तक न हम पूर्ण शक्तिशाली हो सकते हैं, और न पूर्ण सभ्य। अनन्त-ईश्वरीय सत्ता से व्याप्त इस ब्रह्माण्ड के सामने हम, एक कीटाणु के तुल्य, कितने छोटे हैं; तब हमें किस प्रकार अपने आप को पूर्ण शक्तिशाली तथा पूर्ण सभ्य समझना चाहिये। जब तक हम आत्मानुभव करना न सीख जावें और ईश्वर के साथ अपनी समता की दृष्टि से एकता का अनुभव न कर लें, तब तक अपने आप को पूर्ण शक्तिशाली वा पूर्ण सभ्य समझना केवल गर्वमात्र करना है।

ईश्वरीय शक्ति के पूर्ण विकास को देखना हो तो इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की ओर दृष्टि डालिये। प्रत्येक भाव, चाहे वे आपस में कितने ही विरुद्ध क्यों न हों, ईश्वरीय सत्ता के एक-एक अंश के विकास को बतलाते हुए सब मिल कर, उस के विकास की पूर्णता को, उस की पूर्ण शक्ति मत्ता को और सभ्यता की पूर्णता को प्रकट करते हैं। अतः यदि जीवन के उच्चतम रूप को और सभ्यता के पूर्ण स्वरूप को देखना हो, तो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के कृत्य को देखना चाहिये। इसी से मनुष्य को पूर्ण ज्ञान प्राप्त होगा, और उस ज्ञान के अनुसार उचित प्रकार से

कार्य करने की विधि को वह ग्रहण कर सकेगा।

यद्यपि ईश्वरीय सत्ता सर्वभावों में वर्तमान है, तथापि जिन भावों में जड़सत्ता के कारण तमोरूप की प्रधानता हो गई है वे भाव, शक्ति के अन्तर्हित होने से, जड़ कहलाते हैं। वस्तुतः कोई भी भाव संसार में जड़ नहीं है, क्योंकि यह सब ईश्वरीय चेतन सत्ता से आच्छादित है। क्योंकि ईश्वरीय सत्ता सर्वभावों में अनुगत है तथा सर्वभावों के परिवर्तन का आधार है, अतः ईश्वर सर्व व्यापक है। ईश्वर प्रकृति के साथ अनुगत, प्रेरक-शक्ति-रूपेण वर्तमान है। वह सर्व सत्ताओं का आश्रय है। उस की सत्ता से सब सत्ता वाले हैं, अतः वह सत् है। ऐसा कोई स्थान नहीं है जहां उस का नियम, उस का अधिकार, उस का राज्य विद्यमान नहीं है। ऐसा कोई भाव नहीं है जहां चेतनता विद्यमान नहीं है। सब की चेतनता का आधार जो चेतन है वह चित्स्वरूप ईश्वर है। जहां-जहां चेतनसत्ता वर्तमान है वहां-वहां चित् का प्रकाश है। जहां चित् का प्रकाश है वहां कुछ प्राप्ति है, और जहां चित् का प्रकाश नहीं वहां अप्राप्ति वा क्षय है। पूर्ण से प्रकट हुए इस पूर्ण में अपूर्ण कुछ नहीं है, केवल विषमता है। सम से यह विषम हुआ और विषम से फिर सम होने को जा रहा है। विषम से सम होने का जो यत्न है वही अप्राप्त की प्राप्ति का यत्न है। जिस-जिस अंश में जितनी-जितनी विषमता वर्तमान है उस को पूरा करने के लिये या तो अधिक को न्यून करना होता है या न्यून को अधिक करना होता है। इन्हीं दो प्रकार के कार्यों में से, ईश्वरीय नियम के अनुसार, कुछ न कुछ होता ही रहता है। ह्रास की शङ्का से घबराता हुआ प्राणी जब

तक किसी पदार्थ के छोड़ने के लिये बाधित ही न हो, तब तक किसी पदार्थ को छोड़ना नहीं चाहता, प्रत्युत उस के मुकाबिले में उस से विरुद्ध समता को बनाये रखने वाले पदार्थ के संग्रह में यत्न करता है । जितना ही संग्रह कर के अपनी शक्तियों में समता पैदा करता है उतना ही शान्ति का अनुभव करता है वा आनन्दावस्था को प्राप्त होता है। आनन्दावस्था का अनुभव बिना ईश्वरीय चित्सान्निध्य के नहीं होता । जिस समय कोई भाव मन के द्वारा गृहीत होता हुआ हमारी मनोवृत्ति में समता उत्पन्न करने में सहायक हो कर चित्सान्निध्य से अनुकूल-वेद-नीयता को उत्पन्न करता है तब हमें आनन्द का अनुभव होता है। यह आनन्द उस ईश्वरीय सत्ता के प्रकाश का ही फल है जो सत्ता आनन्द स्वरूप है । जब-जब किसी विषयानुभव जन्य आनन्द का हम अनुभव करते हैं तब-तब भी उस आनन्द-सत्ता का ही हमारे अन्तः करण में प्रकाश हुआ करता है । उस आनन्द को अनुभव कर के यह कोई नहीं कह सकता कि ईश्वर आनन्द स्वरूप नहीं है। इस प्रकार प्रकृति के सान्निध्य से सच्चिदा-नन्दमयी शक्ति का विकास सर्वत्र दृष्टि गोचर हो रहा है।

१४
ईश्वर का स्वरूप

ईश्वर जो इस सारी सृष्टि का आदि कारण है, वह प्रकृति में विकारों का कारण होते हुए भी स्वयं विकार शून्य ही रहता है। जैसे-जैसे प्रकृति में ईश्वर की अधिष्ठात्री शक्ति के योग से परिवर्तन आरम्भ होता है, वैसे-वैसे ही उस-उस परिवर्तन के

साथ अनुगत वह भिन्न-भिन्न परिवर्तनों में अपने कर्म के द्वारा अपने गुणों का प्रकाश करती है, परन्तु वह शक्ति अपने रूप में अर्थात् स्वभाव में निर्गुण ही रहती है। प्रकृति के सम्बन्ध से ही वह सगुण है अन्यथा वह निर्गुण है। शक्ति क्योंकि शक्ति है इसीलिये परिवर्तन करने का धर्म उस के स्वरूप से ही उस में विद्यमान है। इस प्रकार विचार करने से प्रतीत होता है कि ईश्वर यद्यपि कारणावस्था को प्राप्त हो जाता है तथापि उस का किसी अन्य वस्तु से संसर्ग नहीं होता, इसीलिये उस के गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं। वही ईश्वर प्रकृति के परिणामों को नानारूपों में परिवर्तित करता हुआ उन को पूर्व की अपेक्षा ऐसे-ऐसे उचित रूप देता जाता है कि पूर्वरूपों को त्याग कर जिन-जिन रूपों में उन को रहना होता है वे उन-उन में ही रहते हैं। इस प्रकार परिवर्तन के द्वारा पदार्थों को उचित रूपों में लाने से अर्थात् पवित्र करने से ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं।

संसार में एक रूप से दूसरे रूप में बदल जाने के अतिरिक्त जन्म का कुछ और स्वरूप नहीं है। मृत्यु का भी यद्यपि यही स्वरूप है परन्तु मृत्यु शक्ति के ह्रास की दिशा को बतलाती है और जन्म उस के विकास की दिशा को बतलाता है। विकास, ह्रास वा जन्म, मृत्यु प्रकृति के परिवर्तनों के अनुसार प्रकृति के विकास, ह्रास वा जन्म, मृत्यु को सूचित करते हैं। ईश्वर जो शक्ति स्वरूप है, वह न जन्म धारण करता है और न मरता है अर्थात् ईश्वर अजर और अमर है। प्रकृति के सर्वभावों में ईश्वरीय शक्ति के अनुगत होने के कारण और उस का अन्त न होने के कारण वह अनन्त है। प्रकृति के साथ अनुगत शक्ति

बिखरे हुये रूप में अंशतः शक्तिमान् होती है और एक अंश दूसरे अंश की अपेक्षा रखता है। आंशिक भाव के त्याग पूर्वक, सर्वांशों को मिला कर. सर्वात्मना, उसी शक्ति को सर्वशक्तिमान् कहते हैं। इस प्रकार ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। सर्वशक्तिमान् का यह अर्थ नहीं कि वह जो कुछ चाहे सब कर सके, परन्तु जो कुछ ईश्वर का कृत्य है उस में वह दूसरे की अपेक्षा से रहित, अर्थात् स्वयं सामर्थ्यवान् है। शक्ति की सत्ता की प्रतीति उस के कार्य करने से ही होती है अन्यथा नहीं। प्रकृति की अधिष्ठात्री शक्ति का नाम ही ईश्वर है। वह शक्ति अपने धर्म से अर्थात् स्वतः ही कार्य करने में प्रवृत्त है। यह नहीं हो सकता कि शक्ति होते हुए कार्य करने में प्रवृत्त न हो। अतः न वह ऐसा चाह सकती है और न यह हो सकता है कि वह शक्ति होते हुए भी कार्य न करे। इसलिये ईश्वर वही कर सकता है जिस में अपने सत्तानुकूल-धर्म से बंधा हुआ है, उस का विघात न वह कर सकता है और न हो सकता है। इसलिये चूंकि ईश्वर के अपने धर्म के अनुसार उस के गुणों का प्रकाश अवश्य होना है अतः कह सकते हैं कि ईश्वर अपने गुणों का प्रकाश करने के लिये सृष्टि को रचता है। चूंकि उस के गुणों का प्रकाश उस के स्वरूप से ही स्वाभाविक है अतः सृष्टि का होना भी स्वाभाविक है और इसी तरह से इस का चक्रवत् परिवर्तन भी स्वाभाविक है। संक्षेप में यूं कह सकते हैं कि जो कुछ हो रहा है वह सब स्वाभाविक है, यही ईश्वर की इच्छा है, यही वह चाहता है और जो चाहता है वही करता है वा वही हो रहा है। इस प्रकार सर्वशक्तिमान् शब्द ईश्वर के विषय में उस के गुण, कर्म, धर्म

की नित्यता को सूचित करता है अनहोनी के होने को नहीं।

गुण और कर्मों का प्रकाश देश, काल और अवस्था के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से हुआ करता है। जब जिस गुण और कर्म का प्रकाश होता है उस से पूर्व उस गुण और कर्म का अभाव रहता हो यह बात नहीं, किन्तु ज्ञानरूप में उस की स्थिति रहती है। इस प्रकार सारा विश्व उद्भव से पूर्व ज्ञानरूप में, ईश्वरीय बुद्धि में, संवित् में या महत्तत्व में विद्यमान रहता है। यह कर्ममय विश्व उस ज्ञान के प्रकाश के सिवाय कुछ नहीं है और अन्त को भी उसी ज्ञानमयी सत्ता में लुप्त हो जावेगा। इसी अभिप्राय को ले कर ईश्वर सर्वज्ञानमय अथवा सर्वज्ञ है। यह संसार-चक्र ईश्वर की सत्ता से चल रहा है यह कहा जा चुका है, इसीलिये वह इस का कर्त्ता है। शक्तियों के विरुद्ध-ध्रुवों के प्रति तुलित होने से सब विश्व का धारण करने वाला भी वही ईश्वर है और समयानुकूल शक्तियों के सङ्घटन के टूटने के द्वारा विश्व का संहर्ता भी वही है।

परिवर्तन चक्र का जो मार्ग है वही न्याय और दया है और उस को चलाने वाला ईश्वर न्यायकारी और दयालु है। जो प्राणी उस की गति को समझ कर उस की इच्छा की पूर्ति में अपने आप को सहायक समझता और अनुकूल गति करता रहता है वह उस की दया का पात्र है उस पर दया की वर्षा होती है। जो अज्ञान से या ज्ञान पूर्वक सृष्टि के नियम को कुछ न समझ कर उस की अवहेलना करता है उस के लिए सृष्टि में वर्तमान परिवर्तन-चक्र का वही स्थिर-नियम न्याय अर्थात् दण्ड के रूप को धारण कर लेता है। सृष्टि में जटिल ईश्वरीय नियमों

(जिन के अनुसार होती हुई विविधि विचित्र घटनाओं को देख कर कभी-कभी विचारशील भी कह उठते हैं कि घटना सृष्टि नियम के विरुद्ध हो गई, जब कि कोई भी घटना ईश्वरीय नियम के विरुद्ध नहीं हो सकती) को समझने में कभी-कभी हमारा अज्ञान ही हमें धोखा देता है, जब कि वस्तुतः वह ईश्वरीय नियम कभी टल नहीं सकता। प्रत्येक को उस के अनुसार चलना है, उसे किसी के अनुसार नहीं चलना। वहां दया और न्याय का एक ही रूप है। नियम के उल्लङ्घन का नाम दया और न्याय नहीं है। यदि ऐसा हो तब तो पक्षपात हो जावे और किसी भी नियम के स्थिर न रहने से संसार में अव्यवस्था हो जाय। अतः ईश्वरीय नियम के अनुसार प्रत्येक जीव को कर्मानुसार सत्य-न्याय से फल मिलता है। अब इस के पश्चात् जीवात्मा विषय पर कुछ लिखा जावेगा।

१५
जीवात्मा

जीवात्मा शब्द के दो खण्ड हैं, एक जीव और दूसरा आत्मा। जीव शब्द में 'जीव प्राणधारणे' धातु विद्यमान है, और आत्मा शब्द 'अत सातत्यगमने' वा 'आप्लृ व्याप्तौ' धातु से बना है। यदि जीव शब्द के अर्थ कोष में देखे जावें तो पता लगता है कि 'जीने का साधन' यह उस का अर्थ है और जीने का यह साधन प्राण धारणरूप है। सांस का अन्दर लेना, बाहर निकालना, भोजन का पचाना, ऊपर और नीचे से तथा सारे

शरीर के सूक्ष्म छिद्रों से मलों का बाहिर निकलना, शरीर का पोषण, मस्तिष्क क्रिया तथा दसों इन्द्रियों का ठीक-ठीक व्यापार में लगना, इत्यादि शरीर में जो कुछ भी हो रहा है वह सब प्राणाधारण से ही हो रहा है। यदि हम संसार में कुछ व्यवसाय न करें तो शरीर के पालन के निमित्त भोजन आदि कुछ प्राप्त नहीं कर सकते, अतः उस व्यवसाय को भी जीवन का साधन होने से कोषकारों ने जीव के अर्थों में दिया है। जीवन के साधन अर्थात् प्राणधारण के दो प्रकार हैं—एक बाह्य साधन और दूसरे आन्तर साधन। भोजन और भोजन प्राप्ति के साधनभूत व्यवसाय बाह्य साधनों में गिने जाते हैं और आन्तरीय साधनों में उस भोजन से प्राप्त वह शक्ति ली जाती है जो जीवन का साधन बन रही है। प्राण शब्द का अर्थ कोष से सांस लेने की क्रिया (respiration, energy, strength, vigour and power) विदित होते हैं। इन चारों शब्दों के अर्थ यद्यपि बहुत कुछ समानता रखते हैं तथापि निम्नलिखित प्रकार से इन में कुछ विभाग किया जा सकता है।

शक्ति दो प्रकार की होती है एक passive और दूसरी active अथवा एक निष्क्रिय और दूसरी सक्रिय अर्थात् एक वह जो क्रिया में परिणत नहीं हुई है और दूसरी वह जो क्रिया में परिणत हो गई है। इन्हीं को potential और kinetic कह सकते हैं। दोनों प्रकार की शक्तियां अपने तुल्य परिमाण में ही आपस में बदल सकती हैं और दोनों शक्तियों का योग सर्वदा तुल्य रहता है।

एक पत्थर जो भूमि से दस फीट की ऊंचाई पर पड़ा है

उस में निष्क्रिय शक्ति मौजूद है, अर्थात् यदि वह गिरे तो कुछ कार्य कर सकता है। गिरते समय गति में होने के कारण उस की निष्क्रिय शक्ति सक्रिय शक्ति में बदल जाती है अर्थात् potential energy kinetic energy में परिणत हो जाती है। पूर्वोक्त लेख से एक बात यह भी ज्ञात हो जानी चाहिये कि शक्ति का परिमाण भी हो सकता है अर्थात् वह मापी जा सकती है। शक्ति का माप उस के कार्य से होता है। जैसे एक पौण्ड भार को एक फुट ऊंचा उठाने में एक फुट पौण्ड कार्य होगा अर्थात् उस कार्य में एक फुट पौण्ड शक्ति व्यय होगी। शक्ति के इन सब नियमों को ध्यान में रखते हुए energy आदि सब अर्थ प्राण के ही अन्तर्गत हो जाते हैं, इसलिये इन सब को प्राण कह सकते हैं। ज्ञानतन्तु और क्रियातन्तु से शरीर में विचार सम्बन्धी तथा अन्य क्रिया सम्बन्धी सब कार्य हो रहे हैं। प्राचीन शरीर-क्रिया-विज्ञान वेत्ताओं (physiologists) ने प्राण शक्ति के पांच भेद बतालाये हैं—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान।

प्राण शब्द का अर्थ life और escence of poetry भी किया है। पूर्व निर्दिष्ट प्राण क्रिया जीवन का आधार है इस लिये प्राण को जीवन भी कहा है। प्राण का अर्थ escence of poetry इस प्रकार से है—

कवि के अर्थ कोष में सर्वज्ञ (omniscient), मेधावी (intelligent), चतुर (clever), प्रत्युत्पन्नमति, प्रत्युत्पन्नकारी, प्राज्ञ (wise), संकल्पक (thinker), हैं, इन गुणों के अतिरिक्त कविता (poetry) के करने से भी कवि को कवि कहते हैं। कवि को सर्वज्ञ इसलिये कहते हैं कि वह सर्वज्ञान वाला है,

अतः सर्वज्ञान को (poetry) कविता कहना असङ्गत नहीं है। इसी प्रकार मेधा, चातुर्य्य, प्रत्युत्पन्नमतिता, प्रत्युत्पन्नकारिता, प्रज्ञा और संकल्प इन को भी poetry या कविता कह सकते हैं। Poetry का लक्षण कोष में इस प्रकार है—

Whatever appeals to the finer emotins. अर्थात् कविता उस साधन विशेष का नाम है कि जो किसी संवेदन (emotion) के असली रूप को उद्बुद्ध करे अथवा सौन्दर्य के आदर्श के संवित् को उद्बुद्ध करे।

सौन्दर्य का आदर्श, वस्तु के असली रूप के सामने आने से ही, मालूम हुआ करता है। यदि मिश्रण हो जाय तो वस्तु का असली रूप मालूम नहीं होता और वह कविता उस वस्तु के सौन्दर्य के आदर्श को उद्बुद्ध नहीं कर सकती। सर्वज्ञान सम्पूर्ण पदार्थों का अविकृत रूप है। पदार्थ परिवर्तन शील होने से मिथ्या हैं और वह अपरिवर्तन शील होने से सत्य हैं, नित्य हैं। पदार्थों के उस अविकृत रूप का क्रान्तदर्शी कवि, जब शब्द के अविकृत रूप को (जो अविकृत रूप प्रकृति के स्थिर नियमों के अनसार अन्दर और बाहिर इस ब्रह्माण्ड में विद्यमान है) श्रवण करता हुआ उस की आनन्द ध्वनि में मग्न हो कर पदार्थों के अविकृत रूपों का अनुभव करता है तब वह सौन्दर्य के आदर्श का अनुभव कर सकता है। इसलिये सर्वज्ञान को कविता का रूप देना और सर्वज्ञ को कवि कहना उचित ही है।

मेधा को धारणावती धी कहा है। मनुष्य के मस्तिष्क में मेधा वह शक्ति है जिस से धारणा होती है। धारणा को धारणा इसलिये कहते हैं, क्योंकि वह मन को धारण करती है। जैसा

कि कहा है—

धारणेत्युच्यते चेयं धार्यते यन्मनोऽनया ।

जिस के द्वारा इन्द्रियों के विषय आत्मा के साथ सम्पर्क करते हैं उस का नाम मन है। मन के द्वारा साक्षात्सम्पर्क नहीं होता परम्परया होता है, क्योंकि बीच में अन्य कई कार्य होते हैं। उपर्युक्त कथन को निम्न लिखित प्रकार से शृङ्खलाबद्ध किया जा सकता है। इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न हुए ज्ञान का प्रभाव या आघात मन पर होता है। वह आघात धारणा के कारण स्थिर रह सकता है। यदि मन के साथ धारणा नहीं है तो मन पर आया हुआ भी आघात स्थिर नहीं रह सकता है। जैसा कि कई वार देखने में आता है कि हम किसी विषय पर विचार करते हुए किसी अन्य वस्तु की ओर टकटकी लगाये देखते रहते हैं या किसी मनोहर ध्वनि को सुन रहे होते हैं, उस समय उस विचार में मग्न रहते-रहते यदि वह रूप वा ध्वनि हमारे सामने से हट जाय तो मनोगत विचार के साथ ही धारणा रहने से केवल वह मनोगत विचार ही बना रहता है। और यदि रूप वा ध्वनि को लक्ष्य करते हुए उस की प्रबलता से वह मनोगत विचार मन से हट जाय तो, क्योंकि धारणा उस रूप वा ध्वनि के आघात के साथ रहती है अतः, उस रूप वा ध्वनि का आघात स्थिर हो जाता है। स्थिर होने के बाद उस का निश्चयात्मक (सन्देह रहित) ज्ञान होता है, जो सुख दुःख के अनुभव को उत्पन्न करता है। किसी बात का निश्चय कैसे होता है और सुख दुःख का भाव कैसे उत्पन्न होता है यह विचारने से पूर्व पूर्वनिर्दिष्ट

कवि के अर्थों को ले कर अभी अधिक विचार करना है।

उपर्युक्त मेधा और मेधा के कार्य की विवेचना से ज्ञात हो गया होगा कि नाम और रूप अर्थात् शब्द और अर्थ का बोध किस प्रकार होता है और उन की स्मृति किस प्रकार होती है। जिस मनुष्य को विषय का ग्रहण कर के पूर्वानुभूत तत्सदृश विषय की स्मृति नहीं होती वह मनुष्य देखता हुआ भी नहीं देखता, सुनता हुआ भी नहीं सुनता, सूंघता हुआ भी नहीं सूंघता, चखता हुआ भी नहीं चखता, और छूता हुआ भी नहीं छूता अर्थात् विषय ग्रहण की क्रिया को करता हुआ भी विषय ग्रहण नहीं करता। जिस को स्मृति नहीं होती वह सौन्दर्य के आदर्श को स्थूल रूप से भी नाम और रूप में नहीं जान सकता। अतः जो कवि है अर्थात् सौन्दर्य के आदर्श को जानता है उस में मेधा (जो सौन्दर्य के आदर्श को बताने का बड़ा भारी साधन है) अवश्य होनी चाहिए। उस मेधा के रखने के कारण ही कवि को मेधावी कहते हैं और सौन्दर्य का आदर्श बताने के कारण ही मेधा को कविता (poetry) कह सकते हैं। ज्ञान (sensation) ग्रहण करने के साधन (इन्द्रियां) बाहिर से विषय को ग्रहण कर के अन्दर के सञ्चित संस्कार को धारणा द्वारा उद्बुद्ध कर देते हैं। जो पुरुष उद्बुद्ध संस्कार के अनुसार आन्तर (मस्तिष्क सम्बन्धी) बाह्य (शरीर सम्बन्धी) क्रिया करने में पूर्णतया समर्थ होता है वह पुरुष चतुर, प्रत्युत्पन्नमति और प्रत्युत्पन्नकारी कहलाता है। उस पुरुष में ज्ञानतन्तुओं और क्रियातन्तुओं के पूर्ण समर्थ होने के कारण स्मृति के अत्यन्त शीघ्र स्फुरण होने से चातुर्य, प्रत्युत्पन्नमतिता और प्रत्युत्पन्न-

कारिता की पराकाष्ठा होती है । वही सौन्दर्य के आदर्श का वास्तविक असनुव कर सकता है । ऐसे ही पुरुष में सौन्दर्य के आदर्श का अनुभव करने की सामर्थ्य होने के कारण उस कवि को चतुर (clever) कहना उचित है। सौन्दर्य के आदर्श का साधन होने से चातुर्य, प्रत्युत्पन्नमतिता और प्रत्युत्पन्नकारिता को कविता कहा जा सकता है।

स्मृति की प्रक्रिया में वस्तु का ज्ञान (sensation) पूर्व-वर्ती स्वसदृश वा विसदृश आदि अनुभवों द्वारा पड़े हुए आघात (impression) वा संस्कार को उद्‌बुद्ध कर देता है तब मेधा अपने अन्दर उस संस्कार की प्रतिमा बना लेती है। प्रतिमा शब्द का अर्थ सदृश है। जब हम किसी पदार्थ को स्मरण करते हैं तो सिवाय इस के कि अपने पिछले संस्कार को उद्‌बुद्ध करें और कुछ नहीं करते । उद्‌बुद्ध संस्कार और उस की प्रतिमा में जब तक सादृश्य ज्ञान की प्रतीति हमें नहीं होती तब तक हम अपनी प्रतिमा वा स्मृति (imagination) को ठीक नहीं कहा करते सादृश्य ज्ञान करने का यही अर्थ है कि समान और विरुद्ध धर्म वा गुण को पहिचानना। समान गुणों की अधिकता से वस्तु सदृश कही जाती है और विरुद्ध गुणों की अधिकता से वस्तु असदृश कही जाती है । जब तक साधर्म्य की प्रतीति से सादृश्य ज्ञान की प्रतीति नहीं हो जाती तब तक सदृश प्रतीति भी नहीं हो सकती, प्रतिमा भी नहीं बन सकती, और स्मृति भी नहीं हो सकती। इसलिए मेधा के कार्य से पहिले सादृश्य ज्ञान की प्रतीति के लिये विचार हुआ करता है । विचार करने वाले साधन को प्रज्ञा वा intelect कहते हैं । ज्ञान में प्रकर्षता

विचार की है इसलिये विचार करने के साधन को प्रज्ञा कहते हैं। निश्चित हुआ-हुआ विचार जब क्रिया में परिणत होने के लिये मन के द्वारा कर्मेन्द्रियों तक पहुँचता है तो मन उस विचार के अङ्ग-प्रत्यङ्ग की सम्यक् कल्पना (विभाग वा बनावट) कर के अर्थात् संकल्प कर के कर्मेन्द्रियों को प्रेरित करता है तब विचार क्रियारूप में परिणत होता है। इस प्रकार प्रज्ञा और संकल्प को भी poetry के अर्थों में पूर्ववत् ला सकते हैं। poetry या कविता का संकुचित अर्थ लोक में प्रसिद्ध है यदि उस का व्यापक अर्थ लिया जाय तो अनेक नवीन अर्थ प्रकट होते हैं।

सार या रस (escence) किसी वस्तु का वह भाग होता है जिस के कारण वह वस्तु उस रूप है। यदि वस्तु में से उस का सार या रस निकाल दिया जाय तो वह वस्तु वह वस्तु ही नहीं रहती। मस्तिष्क का तथा अन्य शरीर का सब व्यापार प्राण पर आश्रित है। यदि शरीर में से प्राण को निकाल दिया जाय तो ऊपर से नीचे तक सब क्रिया बन्द हो जावेगी। इसीलिये प्राण को कविता का सार (escence of poetry) कहा है। जिस के धारण करने से जीवन रहे वह जीव है। क्योंकि जीव से जीवन है और जीव न होने से जीवन नहीं है और प्राण से जीवन है अतः प्राण ही जीव कहलाता है।

आत्मा शब्द 'आप्लृ व्याप्तौ' धातु से बनता है। 'आप्नोति व्याप्नोति इति आत्मा' जो सब जगह व्यापक है वह आत्मा है। आत्मा के इस व्यापक अर्थ को ले कर तो आत्मा की व्याख्या आगे की जावेगी। यह व्याख्या आत्मा की सूक्ष्मता को ले कर होगी, क्योंकि व्यापकता स्थूल एक देशी गतिमान् पदार्थ में नहीं

हो सकती। इस प्रकरण में हम आत्मा का स्थूलार्थ प्राण करेंगे। 'अत सातत्यगमने' धातु से यह अर्थ प्राण में ठीक घटता है, क्योंकि प्राण निरन्तर गति करता है क्षणमात्र भी स्थिर नहीं रहता। यदि जीव ही आत्मा समझा जाय तब तो प्राण को ही जीवात्मा कहना उचित है और यदि जीवोपाधिकृत आत्मा लिया जाय तो उस की व्याख्या आगे होगी कि वह क्या चीज है।

बुद्धि शब्द 'बुध अवगमने' धातु से बना है। अवगमन का अर्थ निश्चित ज्ञान की प्राप्ति है अर्थात् understanding, comprehension, true and diterminate knowledge। धारणा से धारण किया हुआ संस्कार प्रज्ञा से निर्णीत हो कर बुद्धि रूप में परिणत होता है और मेधा उसे धारण करती है। इसी बुद्धि को उपलब्धि वा ज्ञान भी कहते हैं। गौतम ने न्याय शास्त्र में 'बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्' लिखा है, अर्थात् बुद्धि उपलब्धि और ज्ञान ये समान अर्थ प्रकट करते हैं। यद्यपि इन तीनों शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ भी हैं तो भी इन में समानार्थकता भी है और वह पूर्वोक्त प्रकार से दिखला दी गई है।

अब तक केवल दो बातों का वर्णन हुआ कि जीवात्मा किसे कहते हैं और ज्ञान कैसे होता है। अब आगे इस बात का वर्णन होगा कि सुख दुःख की उपलब्धि कैसे होती है।

१६

सुख दुःख की उपलब्धि

मनुष्य की बुद्धि के दो भेद किये जा सकते हैं—एक वह

जो संवेदन (emotion or feeling) को पैदा नहीं करती और दूसरी वह बुद्धि जो संवेदन को पैदा करती है। साधारण तौर पर किसी घड़े की, कपड़े की या लकड़ी आदि की बुद्धि इसी प्रकार अन्य किसी पदार्थ मात्र की बुद्धि संवेदन को पैदा नहीं करती, परन्तु यदि किसी वस्तु का ज्ञान हमारे अन्दर उस वस्तु के किसी सम्बन्ध विशेष की बुद्धि को पैदा करे तो वह सम्बन्ध विशेष की बुद्धि किसी संवेदन को पैदा करती है। गुरुकुल कांगड़ी के पुस्तकालय में लगी हुई स्वामी दयानन्द की विशाल मूर्ति प्रायः सभी प्रेक्षकों के अन्तः करण में गम्भीरता ओजस्विता, विशालता और शान्ति के भाव (emotion वा संवेदन) को उत्पन्न करती है। इसी प्रकार राणा प्रताप, शिवाजी आदि की मूर्तियां वीरता और पराक्रम के भाव उत्पन्न करती हैं। इसी प्रकार से रूप के विषय को छोड़ कर भी किसी प्रकार का लिखा हुआ वा उच्चारण किया हुआ कोई शब्द, कोई गन्ध और कोई रस तथा कोई स्पर्श भिन्न-भिन्न प्रकार के संवेदन उत्पन्न किया करते हैं। यह सब अनुभव से सिद्ध है।

इन संवेदनों के उत्पन्न होने का प्रकार इस प्रकार है कि प्रज्ञा के विचार रूप कर्म से उत्पन्न हुई बुद्धि हमारे अन्दर उस विषय के सम्बन्ध विशेष के संस्कार को उद्बुद्ध कर देती है। वह उद्बुद्ध हुआ संस्कार प्रज्ञा से निर्णीत हो कर बुद्धि रूप हो जाता है। वह बुद्धि विचार को क्रिया में लाने वाली तन्तु (nerve) विशेष जो हृदय से सम्बद्ध है उस तन्तु के द्वारा हृदय की, संकोच विकास की क्रिया पर प्रभाव डालती है उस से सारे शरीर पर प्रभाव पड़ता है। यदि सङ्कोच विकास सम

अनुपात में कम या अधिक होते हैं तो विषाद और हर्ष के भाव का प्रादुर्भाव होता है, यदि विषम अनुपात में बदलते हैं तो विकास के अत्यधिक होने से मनुष्य को बड़ा जोश उत्पन्न होता है क्रोध आता है वह मारने-काटने को दौड़ता है और सङ्कोच के अत्यधिक होने से मनुष्य अत्यन्त शोक में डूब जाता है निष्क्रिय हो जाता है, उस पर उदासी छा जाती है, कभी-कभी मृत्यु तक हो जाती है। जिस प्रकार किसी अर्थ के साथ इन्द्रिय के सन्निकर्ष से उत्पन्न हुआ ज्ञान (sensation) कई क्रमों के बीतने पर बुद्धि के रूप में आता है, इसी प्रकार हृदय के सङ्कोच विकास पर बुद्धि का प्रभाव पड़ने से उत्पन्न हुई विकृति से फिर एक ज्ञान (sensation) उत्पन्न होता है जो एक विशेष क्रम में से गुजर कर संवेदनात्मक बुद्धि को उत्पन्न करता है जिस से सुख और दुःख का अनुभव होता है। वह क्रम इस प्रकार है कि—

पूर्वोक्त विकृति से उत्पन्न ज्ञान (sensation) मन पर आघात (impression) डालता है उस आघात को यदि धारणा धारण कर ले तो उस से आन्तरीय ज्ञानसागरस्थ स्वसम्बन्धी संस्कार उद्बुद्ध होता है उस संस्कार के आधार पर प्रज्ञा निर्णय करती है और उस निर्णीत संस्कार को मेधा धारण करती है और तब वह संवेदनात्मक बुद्धि उत्पन्न होती है। इस प्रकार सुख दुःख का अनुभव शरीर सम्बन्धी पञ्चभूतों के पारस्परिक सम्बन्ध की समता या विषमता के ज्ञान के सिवाय और कुछ नहीं है।

१७

सत्य ज्ञान

अब तक हम ने देखा कि मनुष्य जिस किसी बुद्धि को भी उपलब्ध करता है वह दो संस्कारों के सम्बन्ध के ज्ञान के सिवाय कुछ नहीं है। अतः मनुष्य का सारा ज्ञान केवल सम्बन्ध का ज्ञान (relative knowledge) है और इस प्रकार ज्ञान की सचाई केवल सम्बन्धिता की सचाई (relative) है।

जब कोई बालक किसी रम्य वन के दृश्य का वर्णन पढ़ता या सुनता है तो यद्यपि उस ने रम्य वन नहीं देखा है और उपन्यास आदि पढ़ते या सुनते हुए यद्यपि भूम्यागार आदि उस ने नहीं देखे हैं तथापि उस की मेधा पर उन का चित्र खिंच जाता है। अब प्रश्न होता है कि उस रम्य वन वा भूम्यागार का चित्र फोटो वा संस्कार क्या उस के मस्तिष्क में पहिले से ही वर्तमान था ? मानना पड़ेगा कि अवश्य था, यदि न होता तो मेधा पटल पर उस का चित्र प्रतिबिम्बित न हो सकता। इसी प्रकार जिन लोगों को बहुत देर में कोई बात समझ में आती है या बिलकुल नहीं आती इस का कारण यह होता है कि उन के मस्तिष्क मण्डल में उस विषय का पूर्व संस्कार ही नहीं होता या उसके उद्बुद्ध होने के लिए आवश्यक पूर्ववर्ती माध्यमिक संस्कारों (संस्कार शृङ्खला की बीच की कड़ियों) का विलोप हो चुका होता है, इसीलिए समझाने वाले अध्यापक लोग विद्यार्थी के दिमाग में जिस विचार को डालना चाहते हैं उस के पहिले के कई विचार-सम्बन्ध उसे बताते हैं और अन्त को विद्यार्थी उस

बात को समझ जाता है जिस को अध्यापक समझाना चाहते थे। इस से यह परिणाम निकला कि मनुष्य जो कुछ भी ज्ञान प्राप्त करता है वह अपने अन्तर्हित ज्ञान के संस्कारों को उद्बुद्ध करने के सिवाय कुछ नहीं करता और किसी ज्ञान को वह तब उपलब्ध कर सकता है जब कि उस ज्ञान का सदृश ज्ञान उस के अन्तर्हित ज्ञान में उपस्थित हो। उस अन्तर्हित ज्ञान का स्थान मेधा है। मेधा में प्रति समय उपस्थित भी वह ज्ञान सदा प्रकाशित नहीं होता, केवल तभी प्रकाशित होता है जब उस का उद्बोधक कारण कोई उपस्थित हो जाय, बिना उद्बोधक कारण के उस का प्रकाश असम्भव है। इस प्रकार विचार करने से मालूम हो गया कि अन्तर्हित ज्ञान की आवश्यकता है और वह अन्तर्हित ज्ञान (चिति शक्ति=thinking principle) नित्य है।

विचार करते समय मनुष्य यदि अपनी विचार क्रिया पर दृष्टि डाले तो उस को आत्म-निरीक्षण से वा अपनी विचार क्रिया पर दृष्टि डालने से स्पष्ट विदित हो जावेगा कि वह किसी पदार्थ का ज्ञान करते समय नित्य और एक जैसा रहने वाली किसी वस्तु के धर्मों के साथ उस पदार्थ के पड़ते हुए संस्कारों की तुलना कर रहा होता है, अर्थात् निर्णय कर रहा होता है कि उस पदार्थ के पड़े हुए संस्कार ठीक हैं वा नहीं। वह वास्तव में उस अन्तर्हित ज्ञानमयी सत्ता को सत्य समझता है और सत्य समझ कर ही उस के साथ तुलना करता है, अतएव कई वार ऐसा भी होता है कि निर्णय कर के कोई बात अशुद्ध सिद्ध हो जाती है परन्तु शुद्ध क्या है वह प्रकट नहीं कर सकता, प्रकट

नहीं कर सकता, प्रकट इसलिए नहीं कर सकता कि उस अन्तर्हित ज्ञान के शुद्ध रूप में उद्बुद्ध होने के लिए उसी के सदृश कोई उद्बोधक संस्कार सामने नहीं होता, यदि कोई उस विषय में उस से अच्छा जानने वाला उस के सन्मुख उस बात का रहस्य खोल दे तो वह एकदम कह उठता है "ठीक है" "ठीक है", क्योंकि उस को उद्बोधक संस्कार मिल गया अतः वह "ठीक है" "ठीक है" कह उठा।

१८

मिथ्या ज्ञान

सांख्य-तत्व-कौमुदी की सातवीं कारिका में ईश्वरकृष्ण ने बतलाया है कि किसी वस्तु की अनुपलब्धि इन-इन कारणों से होती है—

अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद्व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च॥

वस्तु की अनुपलब्धि मिथ्या-ज्ञान से वा अविद्या से हुआ करती है। उस मिथ्या-ज्ञान को पैदा करने वाले आठ कारण हैं—

१ अतिदूरात्—बहुत दूर होने से उपलब्धि नहीं होती। जैसे—अन्तरिक्ष में बहुत ऊंचा उड़ता हुआ पक्षी बहुत दूर होने से नहीं दीखता या ठीक-ठीक मालूम नहीं होता।

२ सामीप्यात्—अति समीप होने से उपलब्धि नहीं होती।

जैसे आंख में लगाया हुआ अञ्जन अति समीप होने से नहीं दीखता। पुस्तक के अक्षर आंखों के अति समीप कर लेने पर नहीं दीखते वा पहिचान नहीं पड़ते।

३ इन्द्रियघातात्—इन्द्रिय के नष्ट हो जाने से वा बिगड़ जाने से उपलब्धि नहीं होती। जैसे अन्धा और बहिरा देखता और सुनता नहीं। बिगड़ जाने से रूप और शब्द का ठीक ज्ञान नहीं होता।

४ मनोऽनवस्थानात्—कामादि विषय से आक्रान्त मन वाला मनुष्य मन के चञ्चल होने से वा धारण के नष्ट हो जाने से अच्छे प्रकाश में भी समीपस्थ वस्तु को यथार्थ में उपलब्ध नहीं कर सकता।

५ सौक्ष्म्यात्—कोई वस्तु बहुत सूक्ष्म हो तो बहुत ध्यान से देखने सुनने से भी उपलब्ध नहीं होती। जैसे—परमाणु आदि।

६ व्यवधानात्—किसी अन्य वस्तु के बीच में आ जाने से भी उपलब्धि नहीं होती।

७ अभिभवात्—किसी अन्य के प्रभाव से वस्तु को उपलब्ध करने वाले की शक्ति के दब जाने से भी उपलब्धि नहीं होती। जैसे सूर्य के प्रकाश में तारों की अनुपलब्धि। लोगों के शोर में वक्ता के कथन की अनुपलब्धि वा मिथ्या उपलब्धि।

८ समानाभिहाराच्च—समान संज्ञा होने से भी उपलब्धि नहीं होती। जैसे एक श्रेणी में कई देवदत्त हों तो देवदत्त नाम लेने से उन्हें नहीं पता लगता कि कौन-सा देवदत्त।

ये समस्त कारण अज्ञान वा मिथ्या-ज्ञान को पैदा करने वाले हैं। मनुष्य किसी विषय के जिन धर्मों को इन्द्रिय गोचर करेगा उन्हीं के अनुसार उस की अन्तःस्थ ज्ञानमयी सत्य-चेतना से संस्कार उद्बुद्ध होगा। किसी ठूंठ के आरोह परिणाह को देख कर, जब कि पूरा प्रकाश न हो ऐसे समय में, ठूंठ सम्बन्धी अन्य धर्मों को न देख कर यदि उस के मस्तिष्क में पुरुष सम्बन्धी संस्कार के उद्बुद्ध होने से पुरुष ऐसा ज्ञान हो जाय तो वह ज्ञान उन धर्मों के साथ ठीक ही हुआ यद्यपि वास्तव में ठूंठ के स्थान पर ठूंठ ही है पुरुष नहीं। यह अन्य में अन्य बुद्धि यद्यपि मनोविज्ञान की दृष्टि से साधार है तथापि व्यावहारिक दृष्टि से मिथ्या कहलाती है। इसी प्रकार विपर्यय और संशय ज्ञान का भी क्रम समझ लीजिए विशेष विस्तार की यहां आवश्यकता नहीं।

१९

जीवोपाधिकृत जीवात्मा

प्रत्येक ज्ञान और क्रिया के आधार में उस अन्तःस्थ सत्य ज्ञानमयी चेतन सत्ता का होना आवश्यक है। उस के बिना कुछ ज्ञान नहीं हो सकता तथा कोई क्रिया नहीं हो सकती क्योंकि क्रिया भी चेतन पर आश्रित है। इस शरीर के एक-एक परमाणु में जो क्रिया हो रही है वह सब भी ज्ञानमय-चेतन पर आश्रित है अर्थात् सत्य ज्ञानमय-चेतन से हो रही है।

योगी लोग जो उस चिति शक्ति का पूर्ण आश्रय ले लेते हैं

वे शरीर के एक-एक कार्य पर अपना अधिकार प्राप्त कर लेते हैं। वे ही लोग उस चिति शक्ति के आश्रयभूत पांचभौतिक सम्मेलन के तत्व को जान कर सब कुछ प्रत्यक्षवत् देखते हैं। उस चितिशक्ति का ही नाम आत्मा है वह अनन्त (eternal) है। यह आत्मा शब्द का प्रयोग "आप्लृ व्याप्तौ" धातु के आश्रय से किया है इसी का नाम योग दर्शन के भाष्य में व्यास मुनि ने चितिशक्ति दिया है और बतलाया है "चितिशक्तिरपरिणामिनी अप्रतिसंक्रमा दर्शितविषया शुद्धा च अनन्ता चेति" अर्थात् चितिशक्ति में परिणाम परिवर्तन रूपान्तर या विकार नहीं होता, यह किसी ओर संक्रमण (गति) नहीं करती अर्थात् जन्मान्तर ग्रहण में इस की गति नहीं होती, इस को विषय दिखलाये जाते हैं—धारण के द्वारा आया हुआ संस्कार मेधा के अन्दर आते ही प्रज्ञा द्वारा प्रतितुतिल हो जाता है और उसी समय विषयाकारेण परिणत बुद्धि में चितिशक्ति का प्रकाश प्रकट होता है परन्तु ज्यों ही प्रज्ञा की प्रतितोलन क्रिया समाप्त होती है त्यों ही वह चितिशक्ति फिर वैसी की वैसी ही हो जाती है, इसीलिये व्यास मुनि ने कहा कि यद्यपि वह दर्शितबिषया है तथापि शुद्ध है, निर्लेप है और अनन्त है।

यही जो चितिशक्ति का मेधा में प्रकाश है इसी को कई विचारक प्रतिबिम्ब कहा करते हैं। चितिशक्ति के इस विचित्र व्यवहार के लिए यह दृष्टान्त हो सकता है कि एक रबड़ की गेंद एक दीवार की ओर फेंकी जाती है, वह वायु के माध्यम में से गुजरती हुई दीवार के साथ स्पर्शमात्र करती है और स्पर्श करते ही लौटती है। यह ऐसा ही मालूम होता है कि एक वस्तु एक

तरफ से आई और दूसरी वस्तु दूसरी तरफ से । ये आते ही एक दूसरे को छूती हैं और झट पीछे को लौटती हैं । इसी प्रकार धारणागत संस्कार मेधा के माध्यम में आते ही चित्-सान्निध्य को प्राप्त होता है और पीछे संस्कार रूप में रह जाता है । यहां जो मेधागत चितिशक्ति का प्रतिबिम्ब सा मालूम होता है इसी को जीवोपाधिकृत आत्मा कर के जीवात्मा कहा जाता है । इस से शरीरान्तर धारण करने के सिद्धान्त में कुछ बाधा नहीं आती, यह पुनर्जन्म के प्रकरण में विस्पष्ट किया जायगा ।

२०

ज्ञान का स्वरूप

संसार में सृष्टि रचना पर दृष्टि डालने से समानता और भेद सब को स्पष्ट प्रतीत होते हैं । पदार्थों में वे समानता और भेद मौलिक होने चाहिएं अर्थात् मूल कारण से आये हुए होने चाहिएं । मूल कारण जिस को सांख्य में अव्यक्त वा प्रधान कहते हैं उस के कार्यों में समानता और भेद को उत्पन्न करने वाला कोई गुण वा धर्म उस के अन्दर ही अवश्य विद्यमान होना चाहिये । पहिले बतलाया जा चुका है कि महत् और अहङ्कार प्रकृति के विकारभूत द्रव्य नहीं हैं परन्तु गुण हैं, इनका आविर्भाव कैसे होता है यह भी बतलाया जा चुका है । इन के आविर्भाव से ही पदार्थों में समानता और भेद का आविर्भाव होता है । प्रत्येक मनुष्य अपनी सत्ता को दूसरी सत्ताओं से पृथक् समझता है । मनुष्य अहंबुद्धि वा अहङ्कार है । जितना

ही किसी मनुष्य में अहङ्कार का भाव कम होता जाता है उतना ही वह दूसरों से अधिक मिलता, प्रीति रखता और दूसरों के अन्दर समानता के भाव को देखता है। इस के विपरीत जिस में अहङ्कार का भाव बढ़ता जाता है वह दूसरों से अलग रहता है अन्यों से घृणा करता है, अपनी सत्ता के बराबर दूसरों की सत्ता नहीं समझता और अपनी सत्ता को ही पुष्ट करता है। इस के विपरीत जिसमें अहङ्कार का भाव कम होता चला जाता है वह दूसरों के लिए अपनी सत्ता को भी खो बैठता है। जिस मनुष्य में जिस समाज वा सभा में, जिस देश वा राज्य में अथवा जिस किसी प्राकृतिक पदार्थ में अहङ्कार के भाव की वृद्धि होती जाती है उस में प्राकृतिक अवयव संगठन बढ़ता जाता है और क्रिया शक्ति कम होती जाती है। पृथक्-पृथक् अवयव का संगठन होते-होते जब उन सब को एक जगह सम्बद्ध रखने वाली शक्ति लुप्त हो जाती है तब क्रिया प्रतिक्रिया के नियम से उस की सहवर्तिनी शक्ति ही उस का नाश कर डालती है। संसार में मनुष्य, परिवार, समाज, जाति और देश में जो अवयव सङ्घटन की ओर प्रवृत्ति है वा विकास के नियम का दुरुपयोग किया जा रहा है उसी से चारों ओर नाश दिखलाई दे रहा है। उन्नति का जो वास्तविक तात्पर्य है (अर्थात् शक्ति को विकसित करना और उस के लिये जितना अवयव संगठन उचित हो उतना ही करना तथा अवयव संगठन में ही न लग जाना अर्थात् अपनी वृत्तियों को बहिर्मुख होने से रोक कर अन्तर्मुख करना) उसे लोग भूल गये और छोड़ बैठे। इस से वर्तमान पाश्चात्य सभ्यता और प्राचीन आर्य सभ्यता के लक्ष्य और मार्ग में जो अन्तर है वह

भी स्पष्ट हो जाता है।

इस उपर्युक्त कथन से जहां यह भाव निकलता है कि अहङ्कार का अत्यधिक आविर्भाव संगठन का नाश करने वाला है वहां साथ ही यह भी भाव निकलता है कि पदार्थ मात्र की सत्ता को कायम रखने वाला यहां तक कि सृष्टि के छोटे से छोटे अवयव परमाणु को अन्यों से पृथक्, उस को अपनी शुद्ध सत्ता में रखने वाला यही अहङ्कार गुण है। यदि संसार में से अहं-कार का बिलकुल अभाव हो जाय तो कोई भी पदार्थ यहां तक कि परमाणु भी न रहे, सब का अभाव हो जाय। इसी अहङ्कार को वैशेषिक दर्शनकार ने विशेष शब्द से कहा है। यह अहङ्कार का गुण सत्व, रज और तम की साम्यावस्था में भी प्रत्येक सूक्ष्म-तमांश को अपनी स्थिति में कायम रखता हुआ विद्यमान रहता है। साम्यावस्था का कुछ निर्देश पहिले हो चुका है विशेष आगे किया जायगा। यहां केवल इतना कहना है कि साम्यावस्था में कोई पदार्थ संयुक्तावस्था में नहीं रहता अतः सब सूक्ष्म अवयव उस साम्यावस्था के समय समान देश (volume or space) में रहते हैं अर्थात् एक ही काल में असमान देश को व्याप्त कर के रहना उन में नहीं होता। भिन्न कालों में या एक ही काल में असमान देश को व्याप्त करना सूक्ष्म अवयवों वाले संयुक्त पदार्थ में ही हो सकता है एक परमाणु में नहीं, उसी को इस तरह कह सकते हैं कि कोई संयुक्त-पदार्थ वा परमाणु-पुञ्ज साम्यावस्था में नहीं रहता।

देश और काल के विषय में भी जरासा संकेत करना आवश्यक है कि देश और काल का भाव हमारे अन्दर कैसे

आता है ? आप यदि अपने व्यावहारिक शब्दों पर ध्यान दें तो आप को पता लगेगा कि जब आप यह कहते हैं कि गुरुकुल कांगड़ी स्थान से हरिद्वार चार मील दूर है और गुरुकुल कांगड़ी को स्थापित हुए २३ वर्ष बीत चुके तो आप अपने शब्दों में दो प्रकार की दूरियों का कथन कर रहे हैं। यदि आप दो स्थानों से बंधी हुई दूरी को छोड़ कर दूरीमात्र को अपने ध्यान में लाना चाहें तो नहीं ला सकते, जब कोई दूरी आप के ध्यान में आवेगी तो वह अवश्य दो स्थानों से बंधी होगी। यही बात काल सम्बन्धी दूरी में भी लगा लीजिए। अतः देश काल को शुद्ध रूप में, बिना अपेक्षा के, आप अपने विचार में नहीं ला सकते, आपेक्षिक सम्बन्ध से ही ला सकते हैं। अतः आपेक्षिक भाव को लेकर देश और काल के भाव की उत्पत्ति का लक्षण भी किया जा सकता है कि किसी भी दूरी का भाव अवश्य दो सत्ताओं से सीमित होता है। अस्तु।

उन सूक्ष्म अवयवों में साम्यावस्था के समय अहङ्कार के रहते हुए भी महत् का गुण वर्तमान रहता है जो उस साम्यावस्था को सूचित करता है और अहङ्कार की अत्यन्त हीन दशा को सूचित करता है। जैसे-जैसे अहङ्कार कम होता जाता है महत् बढ़ता जाता है और जैसे-जैसे अहङ्कार बढ़ता जाता है महत् कम होता जाता है। जैसे ऊपर से गिरते हुए पत्थर की गर्भित शक्ति (potential energy) सक्रिय शक्रिय (kinetic energy) में बदल जाती है उसी प्रकार महत् गुण अहङ्कार में और अहङ्कारमहत् गुण में बदल जाता है। ये महत् और अहंङ्कार स्वरूप में वस्तुतः एक ही हैं परंतु मनुष्य ने अपनी आपेक्षिक

बुद्धि के आश्रय से भेद कल्पना कर रक्खी है । स्वरूप में एक होते हुए भी व्यावहारिक कार्य के लिए आपेक्षिक बुद्धि से भेद कल्पना आवश्यक ही है । भेद कल्पना में इन से कौनसा व्यावहारिक कार्य सिद्ध होता है इस के विषय में सांख्य-तत्व-कौमुदी में लिखा है—

अध्यवसायो बुद्धि र्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् ।
सात्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद् विपर्यस्तम् ॥ का० २३ ॥
अभिमानोऽहङ्कारः तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ।
एकादशकश्चगणस्तन्मात्रा पञ्चकश्चैव ॥ २४ ॥
सात्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात् ।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसः तैजसादुभयम् ॥ २५ ॥
बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुः श्रोत्र घ्राण रसन त्वगाख्यानि ।
वाक् पाणि पाद पायूपस्थाः कर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥ २६ ॥
उभयात्मकमत्रमनः सङ्कल्पकमिन्द्रियञ्च साधर्म्यात् ।
गुण परिणाम विशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च ॥ २७ ॥
करणं त्रयोदशविधं तदाहरण धारण प्रकाशकरम् ।
कार्यं च तस्य दशधाऽऽहार्यं धार्यं प्रकाश्यञ्च ॥ ३२ ॥

इन कारिकाओं में बतलाया है कि निश्चय का साधन, निश्चय, निश्चय का फल, जिस का निश्चय किया जाय, निश्चय का उपयोग, अनासक्ति और उस से पूर्णता-लाभ ये सब सात्विक रूप हैं और तामस रूप इन से विपरीत हैं । किसी वस्तु के मान, परिमाण, हद limit को बतलाने वाला अहङ्कार है । उससे दो प्रकार की सृष्टि आरम्भ होती है—ग्यारह इन्द्रियां

और पंच तन्मात्राएं अर्थात् इन के उत्पन्न करने में अहङ्कार निमित्त कारण है अहङ्कार के निमित्त से ये उत्पन्न होती हैं। ग्यारह इन्द्रियों (पांच ज्ञानेन्द्रिय + पांच कर्मेन्द्रिय + मन) की उत्पत्ति में सात्विक अहङ्कार कारण है, पंचतन्मात्रा और पंचभूत इन की उत्पत्ति में तामस और राजस दोनों अहङ्कार निमित्त हैं।

ज्ञान करने के साधन १३ हैं—ग्यारह इन्द्रियां, अहङ्कार और महत्। इन का काम क्रम से आहरण, धारण और प्रकाश करना है। आन्तरीय और बाह्य पंचभूतों की दृष्टि से इन का कार्य क्षेत्र आहार्य, धार्य और प्रकाश्य दस प्रकार का है।

सब इन्द्रियां अपने से सम्बद्ध विशेष भूत की प्रधानता को रखती हुई पंचभूतों से बनी हुई हैं। अहङ्कार के निमित्त से ही उन इन्द्रियों की और भूतों की उत्पत्ति हुई है। यदि ग्यारहों इन्द्रियों में से अहङ्कार की निमित्तता को हटा दिया जाय तो न तो कोई इन्द्रिय रहे और न कुछ ज्ञान हो। इसी प्रकार पंचभूतों और पंचतन्मात्राओं में से यदि अहङ्कार को अलग कर जाय तो न तो सृष्टि पैदा हो और न ज्ञान क्षेत्र ही बने। वस्तुतः यह अहंकार ही है जो अपनी ही बनाई हुई वस्तुओं का आप ही ज्ञान करता रहता है, अथवा यों कहिए कि वस्तुओं में अपनी (अहंकार की) निमित्तता के तारतम्य को ढूंढता रहता है। इस से परिणाम यह निकला कि मनुष्य के मस्तिष्क में ज्ञान करने का साधन एक ही है और वह अहङ्कार है। ज्ञान होने के क्रम के भेद से उस अहङ्कार ही के कई नाम मन, धारणा प्रज्ञा और

मेधा हैं। कार्यों के भेद से ही उस के भिन्न-भिन्न रूप मनुष्य की कल्पना में आते हैं, वस्तुतः अहङ्कार ही है जो ज्ञान करता है वा जिस के निमित्त से ज्ञान होता है। पदार्थों का यह आहंकारिक ज्ञान उस महत् पर आश्रित है जिस के आधार पर आहङ्कारिक ज्ञान की आपेक्षिक सत्यता का निश्चय हुआ करता है, जिस को पहिले अन्तर्हित ज्ञान वा आत्मा शब्द से कहा गया है।

इस प्रकार विचार करने से पता लगता है कि ज्ञान का साधन भी एक है और ज्ञान भी एक है। भेद कल्पना आहंकारिक पदार्थों की आपेक्षिक सत्ता के आधार पर अपनी आपेक्षिक सत्यता ही रखती है वास्तविक सत्यता नहीं। पीछे अहङ्कार को निमित्त कारण कहा गया है। अहङ्कार उपादान कारण नहीं है, क्योंकि अहङ्कार द्रव्य नहीं है गुण है। प्राकृतिक वस्तुएं द्रव्यात्मक हैं गुण उन में रहते हैं गुणों से वे बनी नहीं हैं। गुण (अहंकार) उन के बनने में निमित्तरूप से रहता है तादात्म्य सम्बन्ध से नहीं। मस्तिष्क में सब वस्तुएं, जो बाहिर आहङ्कार के साथ नैमित्तिक सम्बन्ध रखती हैं तादात्म्य नहीं, ज्ञान काल में अहंकार के साथ तादात्म्य सम्बन्ध रखती हैं। बाह्य वस्तुओं का आन्तरीय वस्तुओं के साथ नैमित्तिक सम्बन्ध होता है। क्योंकि वस्तुएं मस्तिष्क में अहङ्कार स्वरूप होती हैं, अतः जैसे-जैसे अहङ्कार महत् के रूप में बदता जाता है वैसे-वैसे ही वस्तुओं का वह अहङ्कार रूप ज्ञान भी महत् रूप में बदलता जाता है। इस प्रकार ज्ञान नित्य है और एक है, ऐसा सिद्ध होता है।

सातत्य बल का नियम

(१)

सृष्टि में क्रिया प्रतिक्रिया का नियम कार्य कर रहा है। एक गेंद को जब एक दीवार के सन्मुख फेंकते हैं तो वह पीछे लौटती है, यदि कोई अन्य दीवार वा आघातक पदार्थ लौटती हुई गेंद के सामने आ उपस्थित हो और गेंद की गति के जारी रहने में बाधक कारण संघर्षण और गुरुता-शक्ति आदि उपस्थित न हों तो वह गेंद उस दीवार को लग कर फिर पहिली दीवार से जा टकरेगी। यदि एक सख्त ज़मीन पर रबड़ की गेंद को पटकें तो वह कुछ देर तक स्वयं उछलती रहेगी।

प्रकाश की किरणें; ताप की किरणें, शब्द और विद्युत् की लहरें इसी संकोच विकास के नियम के अनुसार अपना कार्य कर रही हैं। उदाहरण के लिये प्रकाश और शब्द को लीजिए।

एक ६०° के कोण पर दो दर्पण रक्खे जावें और उनके बीच में एक बत्ती रखदी जावे तो आप देखेंगे कि बत्ति सहित चार प्रतिमाएं बनेंगी। इसी प्रकार आधा समकोण करदें तो ८ प्रतिमाएं बनेंगी, १/३ समकोण करदें तो १२, १/४ से १६, १/५ से २०, १/६ से २४, १/१० से ४०, १/४५ से १८०, १/९० से ३६०; यहां तक कि एक समकोण का अनन्तवां भाग करें और उससे भी आगे बढ़ जावें कि दोनों दर्पणों में कोई कोण ही न रहे वे एक दूसरे के बिल्कुल समानान्तर हो जावें तो अनन्त प्रतिमायें बनेंगी। इन सब प्रतिमाओं के बनने का कारण केवल क्रिया प्रतिक्रिया

का नियम है, अर्थात् एक किरण बत्ती से निकल कर दर्पण पर पड़ी वहां से प्रतिक्षिप्त होकर पहिले पर आई इसी प्रकार कोणों के अनुसार प्रतिमायें बनती चली गईं। यह ध्यान रहे कि किरण दर्पण के साथ जितने अंश का कोण बनाती हुई दर्पण पर गिरती है प्रतिक्षिप्त होते समय दर्पण के साथ उतने ही अंश का कोण बनाती हुई प्रतिक्षिप्त होती है, अर्थात् पतन कोण और प्रतिक्षेप कोण बराबर रहते हैं। सम कोण के जितनवें भाग का कोण हम लें उस की चार गुणी प्रतिमायें उस कोण पर बनेंगी अर्थात् चौथाई सम कोण लेने पर ४×४=१६ प्रतिमायें बनेंगी।

इसी प्रकार शब्द की गूञ्ज किसी बड़े मकान वा पहाड़ के किनारे वा जङ्गल के किनारे आपने सुनी होगी वह केवल क्रिया प्रतिक्रिया के नियम पर अवलम्बित है। इस क्रिया प्रतिक्रिया के नियम से आप जान सकते हैं कि सृष्टि में किसी कार्य के अन्दर जो भी शक्ति लग रही है वह नष्ट नहीं होती किन्तु दूसरे रूप में प्रकट होती है। जब किसी गेंद को ऊपर फेंकते हैं तो वह गिरती है। गेंद को फेंकते समय उस में हम सक्रिय शक्ति (kinetic energy) भर देते हैं, ऊपर चढ़ते-चढ़ते उस गेंद की सक्रिय शक्ति कम होती जाती है और उस का कुछ भाग गर्भित शक्ति (potential energy) में बदलता जाता है और ऊपर से गिरते समय गेंद अपने अन्दर वर्तमान सक्रिय शक्ति और उस पर लगती हुई बाधक शक्ति के फलित वेग से उत्पन्न फलित दिशा (resultant direction) में हो जाती है। इसी प्रकार घड़ी का लटकन जब एक ओर से दूसरी ओर को गति करता है तब सक्रिय शक्ति और निष्क्रिय शक्ति के पारस्परिक परिवर्तन से

घड़ी विशेष समय तक गति करती रहती है, परन्तु अन्य उदाहरणों की अपेक्षा इस उदाहरण में सक्रिय शक्ति और निष्क्रिय शक्ति का भेद करना बहुत कठिन है क्योंकि इस में एक शक्ति निरन्तर परिवर्तित होती हुई अन्त में पूर्णतया दूसरी शक्ति के रूप में बदल जाती है। जब लटकन एक ओर से दूसरी ओर को चढ़ रहा होता है तो अन्त में वह ऐसे स्थान पर पहुँचता है जहां से फिर उसी रेखा पर ठीक विपरीत दिशा में लौटना होता है। यदि आप को किसी विशेष रेखा पर विशेष दूरी तक दौड़ने को कहा जावे और साथ ही यह आवश्यक हो कि आप को पहुँचते ही पीछे लौटना पड़ेगा जिस में एक सैकण्ड के छोटे-से छोटे हिस्से की भी देरी न होने पावे तो क्या यह सम्भव है ? कभी नहीं । चतुर से चतुर, फुर्तीले से फुर्तीला पुरुष भी क्यों न हो उसे भी कुछ न कुछ देरी दिशा परिवर्तन करने में अवश्य लगेगी। इसी प्रकार लटकन को भी यद्यपि उसे लौटने में अपना मुख फेरना नहीं पड़ता तो भी गणनातीत परन्तु कल्पनीय समय की देरी अवश्य लगती है। वह विलम्ब का समय ऐसा है कि उस समय के लिए उस लटकन में कार्य करने वाली शक्ति निष्क्रिय अवस्था में अवश्य रहती है, परन्तु शक्ति की निष्क्रियता के प्रतिपक्ष में दो मुख्य बल कार्य कर रहे होते हैं इसलिए वह निष्क्रिय स्थिति देर तक रह नहीं सकती । उन दो बलों में से एक तो गुरुत्वाकर्षण का बल है और दूसरा घड़ी में लगे हुए वेष्टित तार (spring) का जो प्रतिक्षण खुलता हुआ विशेष समय तक लटकन को परम्परया गति से चलाता रहता है । प्रतिक्षण खुलते हुए वेष्टित तार का बल निरन्तर कम होता

जाता है और वह प्रतिक्षण इतना कम होता है जितना समय लटकन को प्रान्त पर ठहरने में लगता है। घड़ी के स्प्रिंग के बल का परिमाण उस समय से किया गया है जिस समय तक वह स्प्रिंग घड़ी को चला सकता है। अतएव प्रतिक्षण सञ्चालक बल के कम होने से एक ऐसी अवस्था भी आती है कि लटकन बिलकुल ठहर जाता है और घड़ी बन्द हो जाती है। उस में चाबी दे कर फिर संचालक बल भरा जाता है। घड़ी, समय के परिमाण विशेष के क्रम को दिखलाने के लिए, मनुष्य का बनाया यन्त्र विशेष है। उसमें बार-बार संचालक बल डालने की आवश्यकता रहती है, परन्तु प्रकृति की यह अवस्था नहीं है। प्रकृति में अव्यय बल वा सातत्य बल (persistance of force) का नियम कार्य कर रहा है। इस में संचालक बल बार-बार डालने की आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि बल (force) अव्यय है, उस का कभी नाश नहीं होता, अतः उस बल का कार्य सदा जारी रहता है। जब कि प्रकृति साम्यावस्था में थी अर्थात् पदार्थ अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु वा अलक्त्राणु रूप में था उस समय केवल तम ही तम था, सत्व और रज का अत्यन्त तिरोभाव था जिस को वेद ने एक मन्त्र से बड़ा स्पष्ट कर दिया है—

तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाऽजायतैकम्॥

इसी का लगभग अनुवाद मनु ने एक श्लोक से किया है—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिवसर्वतः ॥

इस का अभिप्राय यह है कि यह जो कुछ हमें दीखता है पहिले तम से छिपा हुआ, अव्यक्त, तम रूप था, एक रूप होने से किसी ज्ञान का आधार न था, अव्यक्तावस्था में लाने वाली महती शक्ति ने फिर उसे अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था में किया। प्रकृति में शक्ति उस लटकन की तरह सक्रिय अवस्था से निष्क्रिय अवस्था में भले ही आ जावे परन्तु नष्ट कभी नहीं होती । क्या उस समय, जब कि वह प्रकृति उस लटकन की निष्क्रिय स्थिति में आई होगी (वह स्थिति-काल एक क्षण के भी कितनवें ही भाग के बराबर क्यों न हो), तब क्या आप यह समझ सकते हैं कि उस में शक्ति का अभाव हो गया होगा ? नहीं । वही शक्ति जो प्रतिक्षण उस में परिवर्तन कर रही है वही प्रलय के पश्चात् भी उस एक रूप अव्यक्त को बहु रूप में व्यक्त किया करती है।

२२

सातत्य बल का नियम

(२)

A modern Zorostrian नामक पुस्तक के चतुर्थ अध्याय में Samuel Laing महाशय लिखते हैं—

वैज्ञानिक भाषा में साधारणतया energy शब्द को ही स्वीकार किया गया है, क्योंकि force शब्द को उस मानुषीय

प्रयत्न के लिये ही प्रयुक्त करना उचित है जिसने वास्तव में गति उत्पन्न की हो, जबकि energy एक ऐसा पूर्ण शब्द है जिसमें जो उत्पन्न करता है वा उत्पन्न कर सकता है दोनों भाव आजाते हैं। यदि हम एक धनुष को खींचें तो जिस शक्ति से हम धनुष को खींचते हैं वह शक्ति ज्या के छूटने पर बाण के प्रक्षेप से प्रकट हो सकती है, हम उसे तान रखते हैं तो वह शक्ति जमा रह सकती है। पहिली अवस्था हैं इसे energy of motion गति बल अथवा आत्मिक बल कहते हैं और दूसरी अवस्था में इसे energy of position स्थिति बल वा शारीरिक बल कहते हैं।

हर्बर्ट स्पैन्सर का मत सैम्यूल लेइङ् के मत से कुछ भिन्न है। स्पैन्सर उसके energy शब्द के स्थान में force शब्द को रखता है। हर्बर्ट स्पैन्सर अपनी पुस्तक First Principles के १४६ वें पृष्ठ पर ५ वें अध्याय में लिखता है:— "क्रिया (activity) का क्या सिद्धान्त है? क्रिया का सिद्धान्त जो गति से प्रकट होता है हमारे शारीरिक प्रयत्न के अन्तः ज्ञान का उसके विषय से सम्बन्धमात्र है। धकेलने और खेंचने से हम बाधा अनुभव करते हैं। अन्त को क्रिया का सिद्धान्त हमारे शारीरिक प्रयत्न के अन्तः ज्ञान के तुल्य रूप में समझा जाता है इस लिए गति के नैरन्तर्य (continuity of motion) आत्मा के अमरत्व और प्रकृति की अपरिछेद्यता (indistructibility of matter को हम force (शक्ति) के नाम से समझते हैं।"

यह force शब्द उस energy के लिए है जो अन्यत्र force शब्द के स्थान में प्रयुक्त हो चुका है। इससे प्रकृति क्रिया-

शील होती है, क्योंकि यह रजः शक्ति (active force) उस तमः शक्ति (passive force) से भिन्न है। तमः शक्ति से प्रकृति भिन्न-भिन्न आकृतियों को ग्रहण करती है और स्थान घेरती है। यह एक ऐसी शक्ति है जिसको प्रकृतितत्व वेत्ता (physisist) किसी नाम के देने की आवश्यकता नहीं समझते हैं।"

आगे इसी पुस्तक के १५० पृष्ठ पर छठे अध्याय में स्पैन्सर महाशय जल की महत्तम घटना का दृष्टान्त देकर दो प्रकार की शक्तियों का निरूपण करते हैं और फिर उनका अभेद दिखलाते हैं। वे लिखते हैं:

"जल से बरफ बनते समय जल की मात्राओं के संघटन में ऐसा परिवर्तन आता है कि वह बर्फ जिस पात्र में बनी है यदि उस पात्र में जल इतना भरा था कि पात्र में वायु के लिए थोड़ा भी अवकाश न था और फिर पात्र बिल्कुल बन्द कर दिया गया था तो चूंकि जल ठण्डा होते होते सुकड़ने लगता है और ३·६५° श० तक जितना अधिक से अधिक सुकड़ सकता है सुकड़ चुकता है और उसके बाद फिर फैलने लगता है, अतः उस फैलने के कारण पात्र पर इतना दबाव पड़ता है कि लोहे का पात्र भी फट जाता है। यह अनुभव दो प्रकार की शक्ति को स्वीकार करने के लिए हमें बाधित करता है। एक वह शक्ति है जो परिवर्तन करती है और दूसरी वह शक्ति है जो परिवर्तन को रोकती है पहिली को सक्रिय शक्ति (active) और दूसरी को निष्क्रिय शक्ति (potential) कहते हैं। पहिली जिसका काम स्थान (space) को काबू करना है उसका कोई

विशेष नाम नहीं है, दूसरे प्रकार की शक्ति के लिए आजकल का स्वीकार किया हुआ नाम energy है। दृश्यमान क्रिया का नाम प्रकृतितत्व वेत्ताओं ने सक्रिय शक्ति (active energy) रक्खा है और अदृश्यमान क्रिया जहां हो वहां प्रसुप्त वा निष्क्रिय शक्ति (potential energy) रक्खा है। पदार्थ मात्र की गति में बल (power) का नाम energy है चाहे वह किसी पदार्थ की मात्राओं में हो और चाहे वह बड़े-बड़े पिण्डों में हो। हमारे विचार में यह दूसरे प्रकार की शक्ति पहिली से इतनी भिन्न है कि दूसरे प्रकार की शक्ति बाह्य-शक्ति (extrinsic) है और पहिले प्रकार की आन्तरीय (intrinsic) है।"

इन उपर्युक्त उद्धरणों से शक्ति की नित्यता सिद्ध होती है। स्पैन्सर ने ३·६५° श० पर जल की महत्तम घनता के सिद्धान्त की ओर दृष्टि खींचते हुए बतला दिया कि प्राकृतिक अवयव संघटन होते हुए अर्थात् सक्रिय शक्ति का प्रभाव किसी द्रव्य पर कम होते हुए उसमें निष्क्रिय शक्ति जमा होती रहती है, अर्थात् निष्क्रिय शक्ति का विकास (evolution) होता रहता है। यदि किसी पात्र को जल से पूर्ण भर दें उस पर अवयवों को शिथिल रखने वाले ताप की शक्ति के प्रतिकूल शक्ति (दबाव) का प्रयोग करते जावें तथा उस जल के पात्र को उससे हीन ताप-वाले पदार्थों में रखदें तो जल सुकड़ता जाता है, उसके अवयव घने होते हैं अर्थात् उसके अवयवों में विद्यमान ताप शक्ति जो उसके अवयवों को शिथिल रख रही थी कम होती जाती है। शक्ति तो बाह्य रूप से आन्तर रूप में बदल जाती है परन्तु अवयवों को शिथिल रखना यह ताप शक्ति का

प्रभाव कम होता जाता जाता है, वह वहां तक कम होता है जहां तक जलीय ताप का जलीय अवयवों पर प्रभाव उस ताप की विरोधी शक्तियों के जलीय अवयवों पर प्रभाव के तुल्य नहीं हो जाता। समता होने के बाद भी विरोधी शक्ति को अधिक बढ़ाने से उस का प्रतीकार करने के लिए वह निष्क्रिय शक्ति भी सक्रिय शक्ति के रूप में प्रकट होती है। दबाब के बढ़ाने तथा तापक्रम के कम करने का जलीय अवयवों को संघटित करने में कुछ फल नहीं होता । घनीभूत जलीय अवयव उस निष्क्रिय शक्ति के निमित्त बन कर निष्क्रिय शक्ति की विरोधी शक्ति का प्रतिरोध करते हैं, क्योंकि कम से कम जितने स्थान में वे जलीय अवयव घनीभूत हो कर आ सकते थे आ चुके थे, उस के बाद भी उन पर बलात्कार किया गया। अतएव क्रिया प्रतिक्रिया के नियम के अनुसार उन्होंने भी अपने अन्दर सञ्चित शक्ति के द्वारा विरोध (revolt) किया, अतएव ३.९५° श० से नीचे तापक्रम पर जल फैलने लगा। इस प्रकार शक्तियों के परस्पर परिवर्तन के आधार पर संसार में एक ही सतत बल की विद्यमानता सिद्ध होती है जिस का विभिन्न रूपों में विकास दृष्टिगोचर हो रहा है।

२३

साम्यावस्था और विषमावस्था

उसी जल के दृष्टान्त को सामने रखिये और विचारिए । ज्यों-ज्यों प्राकृतिक अवयव सङ्घटन (evolution) बढ़ता

जाता है, ज्यों-ज्यों असंकीर्णता (simplicity) से संकीर्णता (complexity) अथवा homogenity से hetrogenity आती जाती है, त्यों-त्यों सक्रिय शक्ति के स्थान में निष्क्रिय शक्ति आतीजाती है। प्राकृतिक अवयवों में निष्क्रिय शक्ति वहां तक संचित होती जाती है जहां तक कि प्राकृतिक अवयवों पर आन्तरीय और बाह्य शक्ति का प्रभाव सम नहीं हो जाता। यह अवस्था तुल्यबलता (equilibration) कहलाती है। दो बराबर विरोधी शक्तियों के बीच में आया हुआ प्राकृतिक द्रव्य (matter) दोनों को तोल रहा होता है। इस के बाद बाह्य क्रिया के अधिक जारी रहने से वह आन्तरीय निष्क्रिय शक्ति जागृत हो जाती है और उलटा चक्र चलना आरम्भ होता है। प्रलयावस्था की ओर प्रकृति का वेग होता है। विश्वमृत्यु (omni-present death) उपस्थित होती है। सातत्य बल (persi-stance of force) के सिद्धान्त को मानने वाला भी हर्बर्ट स्पैन्सर इस सार्वभौम मृत्यु (प्रलयावस्था) को अपनी विचार शक्ति से देखता हुआ प्रश्न उठाता है कि "क्या बहुत दूर जा कर कोई परिवर्तन क्रम मृत्यु की ओर ले जाने वाले इन क्रमों को बदलेगा और नव-जीवन का संचार करेगा ?" वह अपनी पुस्तक First Principles के पृष्ठ ४१३ पर लिखता है—"यहां एक प्रश्न उठता है कि यदि प्रत्येक प्रकार का विकास (evolution), रचना (formation), बनावट (structure), कर्म (function), विधि (process) की पेचीदगी की वृद्धि का नाम है जो कि समता के व्यापक रूप के लिए स्वाभाविक है और यदि समानता ने पूर्ण विश्रान्ति में जा कर समाप्त होना है

क्यों ये सब पदार्थ किस गति को प्राप्त होंगे जिस की ओर आगे झुकते जा रहे हैं ? यदि सूर्य अपनी शक्तियों को धीरे-धीरे छोड़ रहा है—यदि सूर्य हज़ारों वर्षों से अपने ताप का प्रसरण कर रहा है—यदि सूर्य के प्रसरण की कमी के साथ-साथ भूमि की क्रियाशीलता में और वनस्पति जीवन तथा प्राणि जीवन में कमी आ रही है, यदि मनुष्य और समाज तुल्यरूप से इस शक्ति पर आश्रित हैं जो धीरे-धीरे समाप्त हो रही है तो क्या हम स्पष्टतया विश्व-मृत्यु की ओर नहीं बढ़ रहे हैं ?" "इस में कुछ सन्देह नहीं कि परिवर्तनशील संसार के परिवर्तनों से ऐसी एक अवस्था अवश्य आने वाली है। क्या कोई अन्तिम उपाय इन उपायों को बदल देगा और नव-जीवन प्रदान करेगा ? यह एक विचारणीय प्रश्न है।

वह दूरवर्ती क्रम (distant process) जो फिर नव-जीवन का संचार करता है अथवा जो प्रकृति को साम्यावस्था से विषमावस्था में लाता है। मेरी समझ में वह वही निष्क्रिय शक्ति है जो प्रकृति को साम्यावस्था में लाने के लिए सक्रिय हो गई थी और फिर धीरे-धीरे निष्क्रिय हो गई है। पहिली अवस्था में उस की निष्क्रियता प्राकृतिक अवयवों के संघटन में हो गई थी, अब उस की निष्क्रियता प्राकृतिक अवयवों के विघटन में हुई है। प्राकृतिक अवयवों का विघटन भी किसी हद तक ही हो सकता है, यह सम्भव नहीं कि विघटन होता ही चला जावे। वह अवयव विघटन अवयवों को ऐसी दशा में पहुंचा देता है जिन का नाम परमाणु (electrons) रखें या कुछ और परन्तु उन पर शक्ति का कुछ असर नहीं होता, उन में शक्ति से

मुकाबिला करने का सामर्थ्य होता है इस विघटन की भी एक हद है अवयव उस से अधिक विघटित नहीं हो सकते । विघटन के लिए अधिक बल लगने पर वे क्रिया प्रतिक्रिया के नियम के अनुसार अपनी निष्क्रिय शक्ति से विघटक शक्ति का पूरी तरह से विरोध करते हैं तथा विघटित होने के स्थान में संघटित होना आरम्भ करते हैं । बस ! यहां से फिर सृष्टि क्रिया आरम्भ होती है । अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु वा प्रकृति के अवयव सब एक जैसे होते हैं परन्तु अपनी वैयक्तिक सत्ता से एक दूसरे से भिन्न होते हैं । सांख्यों के प्रधान अव्यक्त कारणवाद के साथ-साथ वैशेषिकों का परमाणु वाद हर्बर्ट स्पैन्सर ने भी स्वीकार किया है जैसा कि उन के शब्दों से प्रकट होता है ।

वे अपनी पुस्तक के First Principles के ३४३ पृष्ठ पर १९ वें अध्याय में लिखते हैं "सम्भवतः दिखलाया जायगा कि इस प्रकार के परिवर्तन सूक्ष्मतम अवयवों की समता से नहीं परन्तु उनकी विषमता से अर्थात् उनके उन्हीं सूक्ष्मतम अवयवों में छोटे-छोटे निश्चित भेदों से होते हैं । यह निःसन्देह किसी कदर कारण है । वस्तुतः आपेक्षिक समता से आपेक्षिक विषमता के रूप में इस प्रकार के परिवर्तन अवश्य हुआ करते हैं । यह समझ लेना चाहिए"। प्रकृति की सूक्ष्मतम अवस्था में परमाणुओं में परस्पर भेद नहीं होता। प्रथम ही बार जो क्रिया प्रतिक्रिया के नियम से विघटन से संघटन होता है वह व्यष्टि रूप में नहीं किन्तु समष्टि रूप से होता है । इसी समष्टि रूप से हुई प्रकृति की संघटित अवस्था में लीन हुए महत् गुण का भी आविर्भाव होता है । आगे ज्यों ज्यों संघटन बढ़ता जाता है त्यों त्यों

प्रकृति संघटन से व्यष्टि संघटन में आती जाती है। समष्टि संघटन के अनन्तर प्रथम ही बार जो व्यष्टि संघटन होता है उसी अवस्था में अहङ्कार का आविर्भाव होता है। जिस अवस्था में अहङ्कार का आविर्भाव होने वाला होता है उसी अवस्था में प्रकृति समष्टि रूप से पञ्चतन्मात्राओं के रूप में आने लगती है और पञ्चतन्मात्राओं के रूप आने से ही अहङ्कार का आविर्भाव हो जाता है। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द इनका नाम पञ्च-तन्मात्रा है। इनका यह नाम इसलिए है कि ये पांच पञ्चमहा-भूतों की अवस्थाओं को बताने वाले हैं। क्रिया प्रतिक्रिया के नियम से प्रथम ही जो परिवर्तन होता है अर्थात् समष्टि रूप से प्रकृति अव्यक्त से व्यक्त में आती है (जबकि यह व्यक्तावस्था भी अव्यक्तावस्था ही होती है) तब इसी अवस्था में महत् का आविर्भाव होता है। यह अवस्था पुरुष (spirit) और प्रकृति (matter) का केवल व्यवच्छेदनमात्र (differentiation) होती है अर्थात् कार्य के प्रारम्भ होने का चिन्हमात्र होती है। यही पहिला स्पन्द (vibration) शब्द मात्रा का जनक होता है। उस प्रथम शब्द (vibration) का उत्पन्न होना ही उस अवस्था को आकाशीय अवस्था सिद्ध करता है। उस समय उस महत् (spirit) के प्रादुर्भूत होने से एक प्रकार की व्यापक दीप्ति, तप या ज्ञानाग्नि का प्रकाश प्रकट होता है। ज्योंहि आव-यविक स्पन्द प्रारम्भ होता है त्योंहि आवयविक मिलाप भी आरम्भ होता है—प्रकृति में स्पर्श गुण का प्रादुर्भाव होता है। यह स्पर्श गुण की उद्भूति वायवीय अवस्था को सूचित करने वाली है। ज्यों ज्यों प्रकृति (matter) में अवयव संघटन

(intigration) होता जाता है त्यों त्यों उसकी शक्ति (energy) कम होती जाती है। इस प्रकार वे ही स्पन्द शक्तियों की फलित दिशा के अनुसार अनेक प्रकार के रूपों को प्रकट करते हैं और वे ही स्पन्द प्रकाश (light) का उद्भव करते हैं। सप्त-स्वरों, सात रङ्गों, सप्त अर्चिष् (ज्वालाओं) का ऐसा पारस्परिक सम्बन्ध है कि उन सप्तस्वरों से सप्तवर्ण (रंग) और सप्तवर्णों से सप्तस्वर पैदा किये जा सकते हैं। इस विषय के कुछ परीक्षण भी एनी बीसैण्ट की बनाई हुई The Building of the Cosmoss पुस्तक में दिये हैं।

रूप का प्रादुर्भाव होना ही आग्नेय अवस्था को सूचित करता है। इसके अनन्तर गति के अधिकाधिक लोप होने से प्राकृतिक अवयवों में नमी (moisture) पैदा होती है। इस नमी का पैदा होना ही रस मात्रा का उद्भव होना है, और यह ही अबूमयी (जलमयी) अवस्था को सूचित करता है। इस के अनन्तर गति के और अधिक कम होते जाने से गन्धमात्रा का उद्भव होता है। गन्ध शब्द का अर्थ भी गन्ध अर्थात् हिंसन अर्थात् क्रिया शक्ति का न रहना या बहुत कम हो जाना और प्राकृतिक अवयवों का अधिक संघटित होना है। यह गन्ध मात्रा ही पार्थिव अवस्था को बतलाती है। इस प्रकार पांचों प्रकार की अवस्थाओं में प्राकृतिक द्रव्य के आ जाने से और उस में निरंतर परिवर्तनों के होते रहने से नाना दिशाओं में अवान्तर गतियों से अनेक प्रकार के रूप पैदा होते हैं जो ब्राह्मण्ड के पदार्थों के मौलिक घटक होते हैं। इन्हीं मौलिक घटकों से सारे ब्रह्माण्ड की रचना होती है। ये ही हमारे शरीरों के, वनस्पति, ईंट, पत्थर

आदि सब जङ्गम और स्थावर, प्राणि वा अप्राणियों के आधार होते हैं। प्रत्येक मौलिक घटक के अन्दर अन्तर्भूत वह आहङ्कारिक चेतना अर्थात् ज्ञानमयी व्यापक चेतना अंश रूपेण विद्यमान रहती है। उसी चेतना से परिपूरित इन मौलिक घटकों से हमारा शरीर बना है। यह स्थूल शरीर उस पञ्चतन्मात्रिक सूक्ष्मशरीर के ढांचे पर ऐसा मढ़ा हुआ है जैसे एक छोटे से लकड़ी, पत्थर वा किसी अन्य वस्तु के टुकड़े पर धागा लपेटते-लपेटते उस आधार के अनुसार भिन्न-भिन्न आकार वाली गेंदे या पिण्ड बन जाते हैं। उस आधार-सूक्ष्मशरीर का भेद कर्म के भेद के कारण है, अर्थात् अहङ्कार के तारतम्य से स्पन्द के भेद के कारण मात्रिक रचना भेद ही सूक्ष्मशरीर के भेद का कारण हुआ करता है। उस सूक्ष्मशरीर के आधार पर ही स्थूल शरीरों में भिन्नता हुआ करती है। इस सूक्ष्मशरीर की ही शक्ति सारे देह में व्याप्त है। इस सूक्ष्मशरीर की ही शक्ति इन्द्रिय, मन, धारणा प्रज्ञा और मेधा में कार्य करती है। इनकी शक्ति का लय उसी सूक्ष्मशरीर में हुआ करता है। उसी सूक्ष्मशरीर में वर्तमान सहवर्तिनी चेतना का प्रकाश किसी ज्ञान होने के समय हुआ करता है। पांचों इन्द्रियों से प्राप्त हुए ज्ञान की प्रतिमा (image) मनुष्य के अन्तः करण में पड़ा करती है। इस प्रतिमा(image) के पड़ने से ही प्रकट है कि सारा ज्ञान(रूप,रस, गन्ध, स्पर्श,शब्द का ज्ञान) स्वरूप से एक ही है इस प्रकार स्पष्ट हो गया कि ज्ञान के साधन मौलिक रूप से एक ही हैं,और ज्ञान भी एक ही है। यह ज्ञान और ज्ञान का विषय (मूलद्रव्य) महत् के

उद्भव से भी पहिले अभेद रूप से रहते हैं, अर्थात् उनमें दैशिक और कालिक भेद नहीं होता।

२४

सात्विक राजस तामस भेद निरूपण

आप यह जानते हैं कि संसार में भेद का कारण अहङ्कार है। कुछेक पदार्थ संसार में एक जैसे प्रतीत होते हैं और कुछेक बहुत ही भिन्न प्रतीत होते हैं। समानता रखते हुए भी पदार्थों में भेद होता है। भेद की मात्रा कहीं न्यून और कहीं अधिक होती है, अर्थात् अहङ्कार के तारतम्य (न्यूनाधिक्य) से ही पदार्थों में सादृश्य और भेद है, अतः सात्विक, राजस और तामस पदार्थों के भेद का भी आधार अहङ्कार का तारतम्य ही है। पदार्थों में अवयव संघटन जैसे-जैसे बढ़ता जाता है उनमें क्रिया शक्ति कम होती जाती है। एक वह अवस्था पदार्थ की होती है जबकि उसके अवयवों में सक्रिय शक्ति अत्यन्त मन्द हो जाती है और निष्क्रिय शक्ति भी अवयव संघटन के कारण शक्ति के अत्यन्त तिरोहित हो जाने से निष्क्रिय अवस्था में रहती है। यह अवस्था उन पदार्थों की है जिनको हम खनिज(minerals) वा जड़ कहते हैं—जैसे धातु, पत्थर, आदि। एक वे पदार्थ हैं जिन के अवयवों में यद्यपि निष्क्रिय शक्ति की मात्रा सक्रियशक्ति से अधिक है तथापि अवयव संघटन इतना दृढ़ नहीं जितना ईंट, पत्थर आदि में है उनको उद्भिज नाम से पुकारते हैं—इन में वृक्ष, लता आदि परिगणित हैं। इन से भी ऊपर अण्डज और जरायुज हैं जिनमें अवयव संघटन और भी शिथिल होता

है तथा निष्क्रिय शक्ति की अपेक्षा सक्रिय शक्ति पूर्ण रूप से अपना कार्य करती है।

खनिज और उद्भिज दोनों तामस अवस्था में हैं, परन्तु खनिज अधिक तामस और उद्भिज कम तामस हैं। अण्डज और जरायुज राजस अवस्था में हैं, उद्भिज इनसे कम राजस हैं। इसी प्रकार अण्डज और जरायुज में जरायुज अधिक सात्विक हैं और उनमें भी मनुष्य अधिकतर सात्विक हैं, और मनुष्यों में देव अधिकतम सात्विक हैं। प्रकृति की वह रचना सात्विक है जिसमें अत्यल्प अवयव संघटन को रखने वाले, तथा जिन्होंने तप द्वारा बड़ी मात्रा में निष्क्रियशक्ति का सञ्चय कर लिया है, ज्योतिष्मान् प्रकाशमय रूपधारी पदार्थ गिने जाते हैं जिनको देव आदि नाम से कहते हैं। यह निरूपण बड़े ही स्थूल रूप से किया गया है। इन तीनों रूपों में इन तीनों भेदों के अवान्तर भेद से नाना भेद हो जाते हैं। मनुस्मृति के १२ वें अध्याय में गुण भेद से योनी-भेद संक्षेप से बतलाया गया है। उसमें लिखा है:—

देवत्वं सात्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः॥
त्रिविधा त्रिविधैषा तु विज्ञेया गौणिकी गतिः।
अधमा मध्यमाग्र्या च कर्म विद्या विशेषतः॥
स्थावराः क्रिमिकीटाश्च मत्स्याः सर्पाः सकच्छपाः।
पशवश्च मृगाश्चैव जघन्या तामसी गतिः॥
चारणाश्च सुपर्णाश्च पुरुषाश्चैव दाम्भिकाः।

रक्षांसि च पिशाचाश्च तामसीषूत्तमा गतिः ॥
झल्ला मल्ला नटाश्चैव पुरुषाः शस्त्रवृत्तयः ।
द्यूत पान प्रसक्ताश्च जघन्या राजसी गतिः ॥
राजानः क्षत्रियाश्चैव राज्ञां चैव पुरोहिताः ।
वाद युद्ध प्रधानाश्च मध्यमा राजसी गतिः ॥
गन्धर्वा गुह्यका यक्षा विबुधाऽनुचराश्चये ।
तथैवाप्सरसः सर्वा राजसीषूत्तमागतिः ॥
तापसा यतयो विप्रा ये च वैमानिका गणाः ।
नक्षत्राणि च दैत्याश्च प्रथमा सात्त्विकी गतिः ॥
यज्वान ऋषयो देवा वेदा ज्योतींषि वत्सराः ।
पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गतिः ।
ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेवच ।
उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः ॥

इसी प्रकार भगवद्गीता के चौदहवें अध्याय में सत्व, रज और तम का स्वरूप बतलाया है—

सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति-संभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥
तत्र सत्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम् ।
सुख संगेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥
रजो रागात्मकंविद्धि तृष्णा-सङ्ग-समुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्म-संगेन देहिनम् ॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्व देहिनाम् ।
प्रमादालस्य निद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥

सत्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत॥
रजस्तमश्चाभिभूय सत्वं भवति भारत।
रजः सत्वं तमश्चैव तमः सत्वं रजस्तथा॥
सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्वमित्युत॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥
यदा सत्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥
कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्विकं निर्मल फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥
सत्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

भगवद्गीता के सत्रहवें अध्याय में आहार, यज्ञ, तप और दान का त्रिविध रूप बतलाया है—

आयुः सत्व बलारोग्य सुख प्रीति विवर्धनाः।

रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रियाः ॥
कट्वम्ललवणात्युष्ण तीक्ष्ण रूक्ष विदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥
अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधि-दृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेतिमनः समाधाय स सात्विकः ॥
अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ ! तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥
विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥
देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञ-पूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥
मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥
श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभि र्युक्तैः सात्विकं परिचक्षते ॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥
मूढग्राहेणात्मनो यत् पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥
दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।

देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम् ॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥

भगवद् गीता के १८ वें अध्याय में त्याग, ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति, सुख का सात्विक, राजस, तामस भेद निरूपण ।

नियतस्य तु सन्न्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥
दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात् त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्विको मतः ॥
सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम् ॥
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥
नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्विकमुच्यते ॥
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः ।

क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥
मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥
रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥
धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥
यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन !
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ।
विषयेन्द्रिय संयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।

परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्राऽऽलस्य प्रमादोत्थं तत्तामस मुदाहृतम् ॥

इस प्रकार पृथिवी में, द्युलोक में, मनुष्यों में देवों में, कोई भी भाव ऐसा नहीं है जो सत्व, रज, तम से खाली हो।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥

इस प्रकार पता लगता है कि सृष्टि के जड़ चेतन सब पदार्थ सात्विक, राजस और तामस श्रेणी के अन्तर्गत हैं।

२५

जीवन की व्यापकता

वैशेषिक दर्शन अध्याय ३, आह्निक २, सूत्र ४ से जीवन की व्यापकता की प्रामाणिकता सिद्ध है। उक्त सूक्त इस प्रकार है: 'प्राणापान निमेषोन्मेष जीवन मनोगतीन्द्रियान्तर्विकाराः सुख-दुःखेच्छा द्वेष प्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि"। इस संसार में कोई भी ऐसा स्थान नहीं है जहां ईश्वरीय चेतन सत्ता न हो, क्योंकि प्रकृति के साथ चेतन सत्ता के अनुगत होने से ही उस के नाना-भाव प्रकट हुए हैं। वह चेतन सत्ता वा आत्मा जो प्रकृति के प्रत्येक भाव में वर्तमान है उसे पहिचानने के चिह्न उपर्युक्त सूत्र में बतलाये हैं। ये चिह्न आत्मा के हैं। जहां इन में से एक भी चिह्न का प्रकाश होगा वहां आत्मा की उपस्थिति समझी जावेगी।

आत्मा शब्द ही ऐसा है कि उस का भाव इन सब चिह्नों में पाया जाता है। किसी के चिह्न उस के भाव से पृथक् नहीं हो सकते। उन सब चिह्नों में उस का भाव विद्यमान रहता है जिस के वे चिह्न होते हैं। इसी प्रकार आत्मा के चिह्नों में आत्मा का भाव पाया जाता है। आत्मा के भाव में ही उन का भाव है।

पहिले बतलाया जा चुका है कि आत्मा का भाव निरन्तर गति (persistant motion) और सब भावों को प्राप्त होना है। इस से प्रकट है कि आत्मा में लिङ्गों (चिह्नों) का स्वरूप गति है और इस गति स्वरूप से ही वे सब भावों में प्राप्त हैं। किसी वस्तु को पूरण करने के लिए उस की ओर को जो गति है वह प्राण है इसी को attraction कहते हैं। किसी वस्तु में जो अंश आवश्यक नहीं है उस को पृथक् करने के लिए उस वस्तु की प्रतिकूल दिशा में जो गति है उसे अपान वा repulsion कहते हैं। इसी प्रकार संकुचित होने, सुकड़ने वा बन्द होने को दिखलाने वाली गति निमेष और खुलने फैलने को दिखलाने वाली गति जिसे विकसित होना कहते हैं उन्मेष है। प्राण क्रिया की दीर्घता वा स्थिरता का नाम जीवन है। संकल्प विकल्प करना मन का धर्म है, इसी को यों कह सकते हैं कि अपने अनुकूल की ओर गति और प्रतिकूल का परित्याग मन का स्वरूप है। गति शब्द के यदि ज्ञान, गमन और प्राप्ति अर्थ किये जावें तो ये तीनों भी गति रूप ही हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पदार्थों में अपने-अपने तत्वों के प्रादुर्भाव से अपने-अपने विशेष रूप को प्रकट करते हैं। यह पहिले दिखलाया जा चुका है कि ये सब तत्व और उन के विषय गति रूप हैं, उन्हें

इन्द्रिय विकार कहते हैं। वृत्त्यात्मक जितना रूप है वह अन्त-विकार से अभिप्रेत है। वृत्ति सिवाय परिवर्तन के वा गति के और कुछ नहीं है। सुख दुःख का स्वरूप अनुकूल-वेदनीयता और प्रतिकूल-वेदनीयता है। इन के अनुसार इच्छा द्वेष होते हैं और फिर प्रयत्न होता है, ये सब गति से अतिरिक्त कुछ नहीं हैं।

इस प्रकार विचार करने से प्रतीत होता है कि आत्मा का जो भाव गति है उस से पृथक् उस के चिह्नों का भाव नहीं है। गति से ही यह संसार उत्पन्न हुआ है और गति के ही आश्रय चल रहा है। ऐसा कोई रूप नहीं जिस में गति विद्यमान नहीं। सब कुछ गति रूप है। इस प्रकार आत्मा की एकरसता प्रतीत होने से उस के चिह्नों की भी सर्वत्र उपस्थिति प्रतीत होती है। भावों की विभिन्न रूपता के कारण आत्मा के चिन्हों में से किन्हीं का कहीं विशेष प्रादुर्भाव है और किन्हीं का कहीं। इसी प्रकार से आत्मा के सब चिन्ह सर्वत्र विद्यमान हैं। इस प्रकार जीवन की व्यापकता समझनी चाहिए। वस्तुतः कोई भी पदार्थ जड़ नहीं है। जड़ और चेतन का व्यवहार आपेक्षिक बुद्धि को ले कर है। मनुष्यों में भी जड़ कहे जाते हैं जिन्हें अपने भले बुरे की पहिचान नहीं होती। जिन भावों में आत्मिक चिन्हों का विकास जितना ही समता को ले कर है वे भाव उतने ही अधिक चेतन और उन्नत समझे जाने चाहिएं। प्रकृति के सब भावों में मनुष्य ही एक ऐसा भाव है जिस में आत्मा के सब चिन्ह विशेष विकास को प्राप्त हुए हैं। इसीलिए मनुष्य योनि को सब में श्रेष्ठ उन्नत समझना चाहिये। वृक्ष और उस से नीचे

पत्थर में भी अपने अनुकूल अवस्थाओं को प्राप्त कर के वृद्धि होती है और प्रतिकूलता को प्राप्त कर के क्षय । इस से स्पष्ट है कि जीवन सर्वत्र है, कोई ऐसा स्थान नहीं जहां आत्मा न हो ।

२६

आत्मा का अणु, विभु और परिच्छिन्नता सम्बन्धी विचार

जिस प्रकार नदी के प्रवाह में बहता हुआ जल कुछ उसी स्थान में रह जाता है जहां जहां से बह रहा होता है और कुछ आगे बढ़ जाता है तथा स्थानान्तरों के सम्बन्ध से विविध रूप रसादि को प्राप्त होता है, इसी प्रकार इस सृष्टि प्रवाह में जलवत् निरन्तर प्रवहमाण प्रकृति कुछ अपने सूक्ष्म रूप में ही बनी रहती है और कुछ स्थूल भाव को भी प्राप्त हो जाती है । जिस प्रकार प्रकृति के किसी स्थूल रूप में महान्, अहङ्कार और पंच-तन्मात्रा आदि का विकास विद्यमान रहता है उसी प्रकार ब्रह्माण्ड-समष्टि में भी प्रकृति के विकास का सूक्ष्म रूप विद्यमान रहता है, उस में पिण्ड के जीवात्मा की न्याईं ब्रह्माण्ड का जीवात्मा अर्थात् ईश्वर ब्रह्माण्ड का नियन्ता विद्यमान रहता है । इस प्रकार विचार करने से जीव की विभुता, परिच्छिन्नता और सूक्ष्म होने से अणुता समझनी चाहिए । इन विभु और परिच्छिन्न जीवों का स्वरूपतः कुछ भेद नहीं, अपने-अपने कार्य-क्षेत्र के भेद से ही भेद है । क्योंकि जीवाधिष्ठित-चेतना का परि-च्छेदक जीव है अतः आत्मा वा चेतना परिच्छिन्न है । व्यष्टि

जीव और समष्टि जीव के सम्बन्ध से आत्मा उभयत्र परिछिन्न ही है, परन्तु अपेक्षा बुद्धि से एक व्याप्य है और दूसरा व्यापक है। प्रलय काल में व्यष्टि जीव समष्टि जीव में और समष्टि जीव प्रकृति की साम्यावस्था में लीन हो जाता है तथा चेतन सत्ता सम्पूर्ण एक हो जाती है। अन्ततः चेतन सत्ता और जड़सत्ता अविच्छिन्न भाव को अर्थात् एकत्व को प्राप्त होती हैं।

२७

धर्म का समाज और व्यक्ति से सम्बन्ध

समाज और व्यक्ति के साथ धर्म का सम्बन्ध मालूम करने से पहिले यह जानना आवश्यक है कि समाज क्यों है और कैसे है। समाज का प्रयोजन समाज के रचना प्रकार से ही प्रकट हो जावेगा। समाज के रचना प्रकार से ही समाज और व्यक्ति का सम्बन्ध मालूम होगा—कि समाज व्यक्ति के लिये है अथवा व्यक्ति समाज के लिये है अथवा दोनों एक दूसरे के लिये हैं। यदि एक समय समाज की प्रधानता होती है तो अन्य किसी समय व्यक्ति की भी। समाज औरव्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध निश्चित करने में ही सामाजिक और वैयक्तिक धर्मों का निश्चय हो जावेगा। ये धार्मिक सिद्धान्त वे सिद्धान्त होंगे जिनके आधार पर समाज और व्यक्ति का परस्पर निर्वाह हो सकेगा। समाज और व्यक्ति का परस्पर निर्वाह करने वाले धार्मिक सिद्धान्तों में देश, काल और सामर्थ्य के अनुसार होने वाला परिवर्तन स्वाभाविक धर्म (natural religion) के अनुसार

होगा। इस प्रकार स्वाभाविक धर्म के साथ समाज और व्यक्ति का सम्बन्ध बतलाने के लिए पहिले समाज की उत्पत्ति और आवश्यकता पर विचार किया जाता है।

समाज व्यक्तियों के मिलने से बना है। व्यक्ति अपनी-अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए, एक दूसरे से सहायता लेने के लिए, और साथ ही दूसरे की आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए आपस में सङ्घटित होते हैं। कोई व्यक्ति अपनी शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओं को स्वयं पूरा नहीं कर सकता उसे दूसरे की सहायता की आवश्यकता होती है। एक मनुष्य को भोजन की आवश्यकता है यदि वह चाहे कि वह बिना किसी अन्य व्यक्ति की मदद के स्वयं ही अपने लिए भोजन प्राप्त करले तो वह ऐसा नहीं कर सकता। भोजन के लिए वह अन्न तथा बर्तन की आवश्यकता रखता है। अन्न प्राप्त करने के लिए वह ज़मीन को साफ करके हल चला कर थोड़े से बीज बोकर अधिक अन्न पैदा करता है। मान लो थोड़े से बीज उसे जङ्गल में से मिल जाते हैं। वे उसके लिए दीर्घकाल तक पर्याप्त नहीं होते और जिस मौसम में वे जङ्गल में नहीं मिलते उस मौसम में अपनी उदर पूर्ति करने के लिए वह खेत बना कर अन्न बोकर अधिक अन्न संग्रह करता है। खेत को साफ करने के लिए और हल चलाने के लिए उसे उचित साधनों की आवश्यकता होती है। लकड़ी काटने लिए कुल्हाड़ी चाहिए। जिससे काट कर हल बनाया जा सके। कुल्हाड़ी, बर्तन और हल के लिए लोहा वा अन्य धातु चाहिए। धातुएं प्रारम्भिक अवस्था में किसी खनि से निकलती हैं। वहां से उन्हें लेकर फिर साफ कर

के और ढाल कर अपने लिए उपयोगी सामान तैयार करने होते हैं। इस प्रकार एक मनुष्य कितना भी अधिक बुद्धिमान् और परिश्रमी क्यों न हो वह अकेला अपने लिए रोटी भी तैयार नहीं कर सकता। एक मनुष्य में सब प्रकार के कार्य करने की सामर्थ्य और अक्ल भी नहीं होती। इस लिये एक मनुष्य का जीवन निर्वाह होने के लिए जितने सामान की आवश्यकता होती है और उस सामान को उत्पन्न करने के लिए जितने व्यवसाय आवश्यक होते हैं उन में से किसी एक व्यवसाय को अपनी सामर्थ्यानुसार मनुष्य ग्रहण कर लेता है। भिन्न-भिन्न व्यवसायों के लोग भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुएं तैयार करते हैं। ये वस्तुएं एक दूसरे के साथ बदली जाती हैं वा इन वस्तुओं को किसी एक ही वस्तु के द्वारा आपस में बदलने के लिए कोई सिक्का निश्चित किया जाता है। इस प्रकार व्यक्ति अपनी सब आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए दूसरे व्यक्तियों के साथ मिलता है अथवा अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने वालों की स्थिति बनाए रखने के लिए दूसरों की आवश्यकताओं में से कम से कम किसी एक आवश्यकता को पूरा करने के लिए दूसरों का सहायक होकर समाज का निर्माण करता है। भिन्न-भिन्न पेशों को करने में तत्पर व्यक्तियों के संघटन से समाज बनती है। व्यक्तियों का संघटन उनकी अपनी आवश्यकताओं (interests) पर अवलम्बित है, जिन के लिए उन्हें दूसरों पर आश्रित होना पड़ता है, अर्थात् जिन्हें वह दूसरों से पूर्ण होती हुई देखता है, दूसरे से पूर्ण करवा सकता है अथवा उन्हें दूसरे से पूरी की हुई, प्राप्त करने की सामर्थ्य रखता है।

भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं को उपस्थित (मुहय्या= supply) करने में तत्पर मनुष्य इस बात को जानते हैं कि यदि उनके पास वह वस्तु उस समय पर न हुई जिस समय दूसरों को आवश्यकता है तो ग्राहक समय पर चीज़ न दे सकने वाले आदमी का भरोसा छोड़ कर उसी का भरोसा करेंगे जो समय पर चीज़ दे सकता है, इसलिये प्रत्येक व्यवसायी को अपने पास उस वस्तु का इतना संग्रह रखना पड़ता है कि ग्राहक को सदा उसकी दूकान अपने लिये आवश्यक सामान से भरी हुई ही दिखाई दे, क्योंकि ऐसा करने से ही, वह विक्रेता अपने ग्राहकों को वस्तु विक्रय कर के उस साधन को प्राप्त कर सकता है जिस साधन को अन्य विक्रेताओं को देकर वह अपने लिये आवश्यक सामान खरीद कर अपनी आवश्यकता पूर्ण कर सके। व्यवसायी विक्रेता अपने विक्रेय द्रव्य की राशि को पूर्ण करने के लिये अभीष्ट द्रव्य के निर्माताओं को धनादि वस्तु के दान पूर्वक प्रोत्साहन कर के विक्रेय द्रव्य का वहां तक संग्रह करता है जहां तक उस वस्तु का विक्रय सम्भव हो अर्थात् उसकी माँग हो।

ऐसा प्रायः नहीं होता कि जो निर्माता हों वे ही विक्रेता हों। भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुएं भिन्न-भिन्न स्थान में बनती हैं जहां उनके बनाने के लिए सामग्री सुगमता से उपस्थित हो सके। जहां-जहां जो वस्तुएं बनती हैं वहां-वहां ही दूर-दूर से कई प्रकार की वस्तुओं के खरीदार आकर उन वस्तुओं को नहीं खरीद सकते, अतः वे बनी हुई सब वस्तुएं किसी एक स्थान पर आकर इकट्ठी की जाती हैं, स्थिर विक्रेता जिन का कार्य

माल को विक्रय करना ही है वे अपने स्थिर गृह बना कर वहां रहने लगते हैं तथा दूसरों के लिये भी गृह बना कर उन गृहों की सम्पत्ति से अपनी सम्पत्ति को बढ़ाते हैं। बहुत से मनुष्य सम्पत्ति बढ़ा कर उस से ज़मीन मोल लेकर ज़मीन में भिन्न-भिन्न आवश्यक वस्तुएं तैयार कर के उसी स्थान में लाकर बेचते हैं जहां अन्य सब वस्तुएं लाकर बेची जाती हैं, इस प्रकार ज़मीनों के मालिक ज़मीनदार लोग अपने स्थिर मकान बना कर उन्हीं विक्रय स्थानों में रहने लगते हैं। अनेक ऐसी वस्तुएं जिन का निर्माण भी उन्हीं स्थानों में आसानी से हो सकता है जहां विक्रय होता है तो व्यवसायी लोग छोटी बड़ी मैशीन वा फैक्ट्री बना कर उन वस्तुओं को वहीं निर्माण करने लगते हैं और वहीं अपने गृह भी बना कर रहने लगते हैं। इन विक्रय स्थानों (नगरों) में चूंकि सर्व प्रकार की आवश्यक प्राप्य वस्तुएं प्रायः ताज़ी प्राप्त हो सकती हैं अतः शिक्षा सम्बन्धी कार्य—पाठशाला, स्कूल, कौलिज आदि भी नगरों में या उनके समीप ही आरम्भ किये जाते हैं।

निर्माता मनुष्य प्रायः नगरों से बाहिर रहते हैं। इनके स्थान ग्राम वा कस्बे कहे जाते हैं। विक्रेता मनुष्य प्रायः नगरों में रहते हैं। ग्रामीण लोग कच्चा माल तैयार कर नगरों में विक्रेताओं के हाथ बेच जाते हैं। वे उस का पक्का माल तैयार कर के ग्राहकों के हाथ बेचते हैं। इस प्रकार ग्रामों और नगरों का निर्माण और उन का परस्पर सम्बन्ध होता है।

भूमियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के बीजों को उत्पन्न करने की शक्ति होती है, अतः सर्व ग्रामों में कच्चा माल एक जैसा

नहीं होता। भिन्न-भिन्न प्रकार के कच्चे माल के भेद से नगरों की प्राप्य वस्तुओं में भी भेद हो जाता है। कोई वस्तु एक स्थान में प्राप्त होती है और कोई दूसरे स्थान में प्राप्त होती है। इस प्रकार जिस नगर में जो वस्तु नहीं प्राप्त होती उस नगर में वह वस्तु अन्य नगर से लाई जाती है। वस्तु को स्थानान्तर में लाने लेजाने के लिए विविध वाहन तैयार किये जाते हैं। इन से एक नगर का सम्बन्ध दूसरे नगर के साथ हो जाता है। बहुत से ग्रामों और नगरों का मिलकर एक प्रान्त और बहुत से प्रान्तों का मिलकर एक देश वा राष्ट्र बनता है। जैसे नगरों का सम्बन्ध होता है वैसे देशों वा राष्ट्रों का सम्वन्ध भी आपस में होता है।

सब मनुष्य स्वभाव से ही एक जैसी वृत्ति के नहीं होते, कोई क्रियाशील हैं, कोई सुस्त पड़े रहने वाले हैं, कोई न बहुत सुस्त हैं और न बहुत क्रियाशील हैं, किन्तु विचार पूर्वक सोच समझ कर प्रत्येक कार्य को करते कराते हैं। इस प्रकार प्रायः एक जैसी आवश्यकताएं रखते हुए भी मनुष्य अपनी-अपनी वृत्ति के अनुसार एक जैसा परिश्रम नहीं कर सकते। इस प्रकार एक ही व्यवसाय को करने वाले व्यक्तियों का लाभ, उनके परिश्रम के अनुसार अथवा उस परिश्रम से उत्पन्न वस्तुओं के तारतम्य के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। यदि मनुष्य की आवश्यकता ऐसी हो जिसके पूर्ण करने के लिए वह दूसरों की उतनी आवश्यकता पूर्ण न कर सके, जिससे उसको अपनी आवश्यकता पूर्ण करने के लिए पर्याप्त धन न मिले तो वह मनुष्य अपनी आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए अनुचित उपाय ग्रहण करता है। इस प्रकार संसार में असत्यता, वेईमानी, जवर्दस्ती, धींगा धींगी,

छीना झपटी और चोरी डाका चल पड़ता है। समाज में अव्यवस्था फैलाने वाली इन बुराइयों का मूल कारण मनुष्य-प्रकृति में प्रकृति का वह तामसिक परिणाम है जो उद्यमशीलता को नष्ट करके आलस्य,प्रमाद और ढीले ढालेपन आदि भावों का प्रादुर्भाव करता है। इसके अतिरिक्त अव्यवस्था को उत्पन्न करने वाला प्रकृति के रजोगुण का वह परिणाम है जिससे मनुष्य-प्रकृति में कामवासना, तृष्णा, लोलुपता और क्रोध का प्रादुर्भाव होता है। समाज में सुव्यवस्था बना रखने के लिए यह आवश्यक है कि मध्यम-मार्ग, सात्विक-मार्ग वा धर्म-मार्ग का प्रचार किया जाय और इस प्रकार इन वृत्तियों का निरोध किया जाय और करवाया जाय।

वृत्ति सूक्ष्मरूप में (प्रारम्भिक रूप में) आसानी से निरुद्ध होती है और स्थूल रूप में (अभ्यस्त रूप में) कठिनता से निरुद्ध होती है। वृत्ति की सूक्ष्मता और स्थूलता के अनुसार उसके निरोध के लिए साधन भी प्रयोग में एक जैसे नहीं लाए जाते, परन्तु पृथक्-पृथक् ही साधन काम में लाये जाते हैं। समाज में क्षत्रिय का कर्म रक्षा करना है वा सामाजिक कार्यों की सफलता के मार्ग में उत्पन्न हुए विघ्न-स्वरूप कारणों को दूर करना है। उपदेश, सदाचार-शिक्षा और विद्यालयों में विद्या का दान आदि भी सामाजिक कार्यों की विघ्न-स्वरूप वृत्तियों के निरोध के उपाय ही हैं। ये उपाय वृत्तिको सूक्ष्म अवस्था में रोकने के लिए हैं। दण्ड प्रदान—कारावास, वेत्राघात, कठोर शारीरिक-परिश्रम, देश से वहिष्कार, फांसी—ये उपाय वृत्तियों को स्थूल अवस्था में रोकने के हैं। अतः सामाजिक कार्यों के विघ्नों को

दूर करने के लिए दो प्रकार के नियामकों की आवश्यकता है, एक वे जो सूक्ष्म अवस्था में वृत्तियों को रोक सकें और दूसरे वे जो स्थूल अवस्था में वृत्तियों को रोक सकें। सूक्ष्म-अवस्था में वृत्तियों को रोकने वालों का नाम ब्राह्मण है और स्थूल-अवस्था में वृत्तियों को रोकने वालों का नाम क्षत्रिय है।

इस प्रकार व्यक्तियों से समाज का संघटन होता है। व्यवस्थापक ब्राह्मण होते हैं, रक्षक क्षत्रिय होते हैं, व्यवसायी और व्यापारी वैश्य होते हैं और इन तीनों के सहायक वा सेवक श्रमजीवी शूद्र होते हैं। यदि इस प्रकार व्यक्ति संघटित न हों तो व्यक्तियों का अपना स्वार्थ पूरा नहीं हो सकता। व्यक्तियों का वैयक्तिक स्वार्थ पूरा होने के लिए ही समाज का सङ्घटन हुआ था। संघटित व्यक्तियों के समूह को, समष्टि रूप से, एक समष्टि व्यक्ति कल्पना किया जाय तो, प्रत्येक व्यष्टि स्पष्ट ही अपनी समष्टि का अङ्ग प्रतीत होगा। जिस प्रकार एक-एक अङ्ग-प्रत्यङ्ग यथोचित मिल कर यह मनुष्य-देह बना हुआ है, उसी प्रकार समाज और व्यक्ति का भी सम्बन्ध है। व्यक्ति, अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हुए भी, दूसरे की अपेक्षा रखता है। व्यक्ति दूसरे की अपेक्षा रखने के हेतु से ही, सामाजिक दृष्टि से, दूसरों के अधीन है। सामाजिक सङ्घटन की रक्षा के लिये किन्हीं सामाजिक नियमों का होना आवश्यक है। इसी प्रकार सामाजिक सङ्घटन में यथास्थान अपना भाग ग्रहण कर सकने के लिए व्यक्तियों के ऊपर किन्हीं वैयक्तिक नियमों का होना आवश्यक है। जिन नियमों के आधार पर व्यक्ति अपनी स्थिति समाज में रखते हैं वे नियम वैयक्तिक धर्म हैं, और जिन नियमों के

आधार पर सामाजिक संघटन की स्थिति है वे नियम सामाजिक धर्म हैं। इस प्रकार व्यक्ति और समाज का धर्म से सम्बन्ध है। देह में हृदय, फुप्फुस, मस्तिष्क, यकृत्, आमाशय, प्लीहा, क्लोम, अन्त्र, वृक्क आदि बहुत से अङ्ग हैं। ये अङ्ग देह में अपना-अपना स्वतन्त्र कार्य करते हैं, परन्तु अपने कार्य को करने के लिए दूसरों की अपेक्षा रखते हैं। आमाशय और आन्त्र भोजन का रस बना कर उस रस को नाड़ियों के द्वारा यकृत् में रञ्जित करते हुए हृदय में भेज देते हैं। फुप्फुस उस रस को हृदय से ले कर रक्त बनाता है और कई विषों तथा कर्बनिकाम्ल गैस को बाहिर फेंक देता है, हृदय उस रक्त को फिर शरीर में धकेल देता है। उस रक्त में से, शरीर के अङ्ग, अपना-अपना पोषक द्रव्य ले कर, अपने आप को पुष्ट करते हैं और अपना कार्य करने में समर्थ होते हैं। प्लीहा रक्त कण बनाती है। वृक्क रक्त में से विषों को पृथक् करते हैं। मस्तिष्क सब अङ्गों को शक्ति प्रदान करता है। यदि इन अङ्गों में से कोई अङ्ग अपने कार्य में शिथिलता या तेजी कर दे तो अन्य अङ्गों के कार्य भी यथोचित नहीं चल सकते। इस प्रकार देह शिथिल पड़ जाता है। इसी प्रकार व्यक्तियों की शिथिलता या तीव्रता से समाज भी शिथिल या तीव्र हो जाता है। इस प्रकार वैयक्तिक धर्मों का प्रभाव समाज पर पड़ता है। चूंकि मनुष्य अपनी जीवनोपयोगी समस्त सामग्री के लिए, दूसरों की अपेक्षा रखता है, अतः उसे अपने जीवन पर भी वहीं तक स्वतन्त्र अधिकार है जहां तक वह अपने लिये दूसरों की अपेक्षा नहीं रखता। इस प्रकार चूंकि मनुष्य के वैयक्तिक जीवन पर समाज को पूर्ण अधिकार है अतः

कोई मनुष्य आत्म-घात के लिये यत्न करता हुआ भी पाप करता है। इसी प्रकार परघात करने के लिए यत्न भी पाप है। वे सब कर्म पाप हैं जो मनुष्य की वैयक्तिक—शारीरिक, मानसिक और नैतिक—अवस्था को क्षीण कर के समाज को निर्बल बनाते हैं। इस प्रकार मद्य, मांस, मीन, मुद्रा और मैथुन इन पञ्चम-कारों का साधारण[1] अर्थों में सेवन पाप है। ये शरीर और मन को क्षीण करते हैं—प्रकाश और स्फूर्ति का नाश कर के शरीर मन और बुद्धि निस्तेज, निर्वीर्य, निष्प्रभ, पराक्रमशून्य जड़ करते हैं। इस प्रकार ये एक-एक मनुष्य को व्यक्ति रूप में दूसरों के लिए अनुपयुक्त करते हुए सारे समाज को निर्बल कर देते हैं। क्रोध करना पाप है, अक्रोध पुण्य है। क्रोध करने से मनुष्य के पाचक रस विषाक्त हो कर देह में विष संचार से मनुष्य को क्षीण करते हैं। इसी प्रकार शोक और भय देह के अनेक उत्तम उपयोगी द्रव्यों के रसों को विषयुक्त करते हैं, मन को निर्बल करते हैं। इस प्रकार व्यक्तियों के शरीर व मन समाज में अपने उचित कार्य में भाग ले सकने के अयोग्य हो जाते हैं। समाज का अधः पतन हो जाता है। वैयक्तिक धर्मों का पालन जहां समाज में वैयक्तिक जीवन को उन्नत और आयु को दीर्घ करता है वहां सामाजिक जीवन को भी पुष्ट करता है। वैयक्तिक धर्मों के पालन से सामाजिक जीवन की उन्नति और सामाजिक जीवन की उन्नति से पुनः अधिक-अधिक वैयक्तिक धर्मों का पालन और जीवन की

---

१ विशेष अर्थों के लिए देखो—

तन्त्र तत्वप्रकाश पृष्ठ २७, २८ अथवा भैरव यामल तन्त्र।

उन्नति होती है।

जिस प्रकार वैयक्तिक धर्मों का पालन व्यक्ति और समाज दोनों की दृष्टि से आवश्यक है, उसी प्रकार सामाजिक धर्मों का पालन भी समाज और व्यक्ति दोनों की दृष्टि से आवश्यक है। समाज का संघटन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र से बना हुआ है। जब मनुष्यों को अपने जीवन निर्वाह की फिक्र पड़ जाती है तब वे, समाज में अपने नियत कर्त्तव्यों को छोड़ कर जीवनोपयोगी सामग्री को इकट्ठा करने के लिए ही अपनी शक्ति लगा देते हैं। वर्णों के अपने नियत कर्त्तव्यों को छोड़ देने से समाज संघटन टूट जाता है। समाज का एक बड़ा भाग, जो वैश्यों से बना है, उस का कार्य यही है कि वह देश में व्यवसाय और व्यापार के कार्य की उन्नति कर के जीवनोपयोगी सामग्री का संग्रह करे। वह संग्रह उन वैश्यों के वैयक्तिक उपभोग के लिए ही नहीं होना चाहिए, अपितु अन्य तीन वर्णों में भी बंटना चाहिए, कुछ अंश सार्वजनिक कार्यों के लिए राजकोष में जाना चाहिए, जैसे शिक्षा-विभाग, सिंचन-विभाग, सेना, रेल, तार, गाड़ियां, सड़क, विमान, जहाज आदि सार्वजनिक विभाग हैं। उस अंश को राजकोष में लेने के लिए प्रजा का स्वयं चुना हुआ प्रतिनिधि राजा प्रजा की सम्मति से आय-कर-विधान का प्रयोग करता है। शिक्षा के द्वारा मनुष्यों में देशहित, जातिहित और धर्महित के भाव बालकपन से ही डालने चाहिएं, क्योंकि इस प्रकार से ही उनमें दानवृत्ति को स्थिर-स्वभाव के रूप में विकसित किया जा सकता है। जिस देश के मनुष्यों में दानवृत्ति नहीं है वहां वर्णधर्म टूट जाने से समाज संघटन नहीं रह सकता। जिस प्रकार सामाजिक

जीवन की उन्नति के लिये कर्मानुसार वर्णविभाग और वर्णधर्म का पालन आवश्यक है, उसी प्रकार वैयक्तिक जीवन की उन्नति के लिए आश्रमविभाग और आश्रम धर्म का पालन आवश्यक है। इस प्रकार वर्णाश्रम धर्म के पालन से व्यक्ति और समाज दोनों परस्पर सहायक होते हैं तथा व्यक्ति और समाज का धर्म के साथ जो सम्बन्ध है उसे स्पष्ट करते हैं।

सामाजिक और वैयक्तिक धर्मों का सम्बन्ध उपयोगितावाद की दृष्टि से दिखलाया है। इसी को एक शब्द में सदाचार कह सकते हैं। सदाचार-धर्म धर्म के स्रोत तक पहुँचने के लिए साधन मात्र है। मनुष्य सदाचार-धर्म के पालन से चित्त के राजस, तामस परिणाम को वश में करता है और सात्विक परिणाम में रहने का अभ्यास करता है। अभ्यास से जितनी ही अधिक शुद्ध सात्विक परिणाम की अवस्था में रहने की आदत बढ़ती जाती है, मनुष्य उतना ही अधिक धर्म के स्रोत के समीप पहुंचता जाता है। इस प्रकार धर्म के स्रोत को प्राप्त करने के लिए, जिससे मनुष्य को निरतिशय आनन्द की प्राप्ति हो सके, सदाचार पूर्वक धर्म के पुण्य रूप का सञ्चय करना चाहिये। इस प्रकार धर्माचरण का महत्व उपयोगितावाद के द्वारा भी स्पष्ट होने के कारण उपयोगितावाद धर्माचरण के महत्व को बढ़ाता ही है, घटाता नहीं। यदि उपयोगितावाद धर्माचरण के महत्व से शून्य हो तो निस्सार और हानि कारक प्रतीत होता है, वही धार्मिक ज्योति के प्रतिक्षेप से युक्त होकर संसार लाभप्रद और गौरव युक्त प्रतीत होने लगता है।

परिवर्तनशील संसार में देश, काल और अवस्था का

भेद मनुष्यों के वैयक्तिक जीवन और सामाजिक जीवन पर स्पष्ट प्रभाव डालता है। वैयक्तिक जीवन और सामाजिक जीवन के बदलते रहने से इन के धर्मों में भी परिवर्तन होना आवश्यक है। एक ही कार्य किसी विशेष देश, काल और अवस्था में जीवन का आधार होने से धर्म हो सकता है और वही अन्य देश, काल, अवस्था में जीवन का आधार न होने से अधर्म हो सकता है। जैसे अपने देश की रक्षार्थ आक्रमणकारी शत्रु लोगों को मारना धर्म है जब कि दूसरी ओर किसी सामाजिक या वैयक्तिक जीवन की रक्षा के निमित्त के बिना किसी मनुष्य को मार देना अथवा अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिए दूसरे के स्वार्थ की चिन्ता न करके दूसरे को हनन करना अधर्म है, पाप है; इसी प्रकार जैसे घी का खाना आयु के लिए हित करने से धर्म है परन्तु नव-ज्वर-ग्रस्त रोगी को घृत सेवन अहितकर होने से अधर्म है, पाप है।

देश, काल और अवस्था का परिवर्तन कुछ तो मनुष्य की इच्छा के अधीन है और कुछ ईश्वरीय नियमों के अधीन है। ईश्वरीय नियमों के अधीन जो देश, काल तथा अवस्थाओं का परिवर्तन चक्र चल रहा है उस से पृथक् रहना मनुष्य की शक्ति से बाहिर है। सूर्य के गिर्द पृथ्वी के घूमने से ऋतुओं का प्रादुर्भाव हो रहा है। सब ऋतुओं का अपना-अपना स्वभाव पृथक् ही है। भिन्न-भिन्न ऋतुओं में उत्पन्न हुए सृष्टि के द्रव्यों का स्वभाव भी भिन्न-भिन्न है। ऋतुओं के भेद के साथ-साथ देश भेद भी द्रव्यों के स्वभावों में भेद का कारण है। इस प्रकार देश, काल के भेद से भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले पदार्थों का

सेवन करने वाले प्राणियों के स्वभावों में भी भेद का होना आवश्यक है। प्राणियों के स्वभावों में भेद देश, काल के द्वारा साक्षात् भी होता है और पदार्थों के उपभोग द्वारा परम्परा से भी होता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न देशों के प्राणियों में स्वभाव का भेद उन के गुण और कर्मों में भेद का कारण बन जाता है। भिन्न-भिन्न गुण-कर्म-स्वभाव के प्राणी किसी एकही कार्य को एक ही समय में एक जैसा और एक जितना नहीं कर सकते। यह कर्म का भेद उनके फल के भेद में भी स्वाभाविक ही कारण बन जाता है। व्यक्तियों की विषमता सामाजिक विषमता का कारण बन जाती है। इस प्रकार वैयक्तिक और सामाजिक विषमताओं के आधार में ईश्वरीय नियम विद्यमान समझा जाता है। यह ईश्वरीय नियम नहीं टल सकता। सामाजिक विषमताओं का कम से कम प्रकाश होने देने के लिए व्यक्तियां देश काल के अनुसार अपनी स्थिति परिवर्तन करती रहती हैं। इस प्रकार ईश्वरीय नियमों के आधार पर होने वाली देश काल की विषमता ही व्यक्तियों की अपनी स्थिति को स्वेच्छा से बदल कर सामाजिक विषमता को सफलता पूर्वक कम से कम करते रहने का आधार है। जिन ईश्वरीय नियमों के आधार पर देश काल की विषमता होती रहती है उन नियमों का प्रकाश भी ज्ञानमयी नित्य चेतनसत्ता का जड़सत्ता में जो प्रकाश होता है उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस प्रकार विचारने से स्पष्ट है कि पहिले जिस स्वाभाविक धर्म का स्वरूप दिखलाया गया है उसी स्वाभाविक धर्म का प्रकाश, व्यक्ति और समाज में होने के कारण धर्म का व्यक्ति और

समाज के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध है।

२८

पुनर्जन्म

इस विश्व में पदार्थ नष्ट होते रहते हैं परन्तु अभाव किसी का नहीं होता सूक्ष्म हो जाते हैं। भिन्न-भिन्न पदार्थ सूक्ष्मता की पराकाष्ठा में जा कर भेद-भाव को सर्वथा त्याग देते हैं अर्थात् पदार्थों के शरीर में अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था में कोई भेद नहीं रहता साम्य अवस्था प्राप्त हो जाती है और पदार्थ का भेद-भाव जिस के आधार पर प्रकृति ने उस पदार्थ का शरीर बनाया था वह ज्ञानमयी चेतनसत्ता में चला जाता है।

सृष्टिकाल में अर्थात् जब रचना आरम्भ होती है तब ज्ञानमयी चेतन सत्ता में वर्तमान भेद-भावों (कारण शरीरों) को आधार में रख कर प्रकृति उन के अनुसार ही उन पर सूक्ष्म शरीर अथवा लिङ्ग शरीर और स्थूल शरीर को बनाती है। इस प्रकार प्राणियों की प्रथम अमैथुनिक (asexual) उत्पत्ति होती है और पश्चात् अमैथुनिक और मैथुनिक (sexual) दोनों प्रकार से उत्पत्ति होती है। सृष्टि के जिस खण्ड में प्रकृति और पुरुष के अंश अथवा आग्नेय और सौम्य ये दोनों भाव एक ही पिण्ड में इस प्रकार मिले-जुले रहते हैं कि वे बाह्य मिथुन वा संयोग की अपेक्षा न कर स्वभाव से ही स्वसदृश उत्पत्ति करते रहते हैं उस खण्ड में मैथुनिक सृष्टि मानी जाती है। समान शक्ति सम्पन्न आग्नेय और सौम्य

भाव ही सृष्टि उत्पन्न करते हैं। एक ही पिण्ड में यद्यपि ये दोनों भाव सदा वर्तमान रहते हैं तथापि उनमें न्यूनाधिकता हो जाती है और इसीलिए उस न्यूनाधिकता की दशा में वह प्रत्येक पिण्ड पृथक् उत्पत्ति नहीं कर सकता। अब उस पिण्ड को, दोनों भावों के अनुपात को समान करने के लिए, दूसरे पिण्ड के साथ मिलाने की आवश्यकता होती है। इसी को मैथुनिक सृष्टि कहते हैं। जब ये दोनों भाव समान अनुपात में मिलते हैं तब एक सन्तुष्टि अथवा आनन्द की उत्पत्ति होती है। वस्तुतः एक व्यक्ति से हो अथवा भिन्न व्यक्तियों से हो सृष्टि आग्नेय और सौम्य अंशों के मिलने से ही होती है, अतएव इस भाव को लेकर सृष्टि की उत्पत्ति सर्वदा ही मैथुनिक (sexual) समझनी चाहिए।

सृष्टि रचना भेद को प्रकट करने के लिए है। अभेद भाव में सृष्टि नहीं रहती प्रलय हो जाती है। मौलिक भेद तो अवश्य रहता है उसमें कुछ परिवर्तन नहीं होता। मौलिक भेद के आधार पर होती हुई रचना के क्रम में बनते हुए रूपों पर तीन प्रकार का प्रभाव पड़ता है—एक देशकाल परिस्थिति सम्बन्धी (enviranment), दूसरा आनुवंशिक (haridi-tory) और तीसरा स्वकीय। अभेद से भेद की ओर बढ़ती हुई सृष्टि रचना में एकरूप से या कई रूपों से प्रकट हुआ अन्य रूप किसी अंश में अपने जनक रूपों के सदृश होता है और किसी अंश में भिन्न भी होता है। कोई रूप किसी अन्य रूप के सर्वथा सदृश नहीं होता।

साम्य अवस्था में आई हुई सूक्ष्म प्रकृति के अंशों की

विविध योजना से मौलिक पदार्थ (elements) उत्पन्न होते हैं। इन मौलिक पदार्थों की विविध योजना से समस्त-पदार्थ (compounds) उत्पन्न होते हैं। सत्व-प्रधान समस्त-पदार्थों में जीवन (life) के लक्षण प्रादुर्भूत होते हैं। जिन समस्त-पदार्थों में जीवन के लक्षण प्रादुर्भूत नहीं होते वे अधिक तामसिक होते हैं अर्थात् उन में देश, काल, परिस्थिति के अनुसार अपनी स्थिति बदलने की ओर प्रवृत्ति या तो होती ही नहीं यदि होती भी है तो इतनी थोड़ी कि उसे नहीं के बराबर ही कह सकते हैं।

जो पदार्थ अपनी अवस्था देश, काल और परिस्थिति के अनुसार आसानी से बदलने की प्रवृत्ति रखते हैं वे पदार्थ जीवित ऐन्द्रियक (organic) कहलाते हैं और जो आसानी से बदलने की प्रवृत्ति नहीं रखते अथवा अत्यन्त दीर्घकालापेक्षित और बलापेक्षित परिवर्तन की प्रवृत्ति रखने के कारण उस शक्ति से बिलकुल शून्य ही कहे जा सकते हैं वे जड़ अनैन्द्रियक (inorganic) कहलाते हैं। जीवित पदार्थों में बाह्य प्रभावों को ग्रहण करने या रोकने की प्रवृत्ति अर्थात् जागृति (responce) होती है। जीवित पदार्थों में हानिकारक और लाभदायक प्रभावों को रोकने और ग्रहण करने के लिए अर्थात् रागद्वेषात्मक प्रवृत्ति के सफल होने के लिए उन में ग्राह्य और अग्राह्य सम्बन्धी विवेक और सुख दुःख के अनुसार प्रयत्न भी होता है। जीवित पदार्थों में जागृति (responce) होने से वे बाह्य परिस्थिति के अनुसार अपने आप को ढाल लेते हैं। कुछ अपने अनुसार दूसरे को बनाते हैं और कुछ दूसरे के

अनुसार स्वयं बन जाते हैं। इस प्रकार अपनी स्थिति को कायम रखने के लिए रूपान्तरित होते रहते हैं।

परिस्थिति के साथ युद्ध करने में जीवित पदार्थ का अपना बल-अबल, माता-पिता से प्राप्त हुए देह का बलाबल और परिस्थिति का बलाबल ये तीन अवयव (factors) काम करते हैं। यदि मेरे मन के अन्दर उत्साह और धैर्य पर्याप्त मात्रा में है, देश भक्ति का भाव अन्तःकरण में उमड़ रहा है और शरीर निर्बल है अर्थात् भाव की उत्तेजना से जो प्रबल इच्छा होती है उसे पूरा करने में सहायक नहीं हो सकता तो प्रबल शत्रु से आक्रान्त मैं, अपनी रक्षा नहीं कर सकूंगा अर्थात् शत्रु की परिस्थिति को मैं वश में नहीं ला सकूंगा। किन्तु स्वयं उस के वशीभूत हो जाऊंगा। यदि मेरे अन्तः करण और शरीर परिस्थिति के बल के मुकाबिले में अधिक शक्तिशाली हैं तो वे परिस्थिति पर विजय पा जावेंगे। यदि दोनों पर्याप्त बलवान् होते हुए भी परिस्थिति की अपेक्षा से निर्बल हैं तो परिस्थिति के वशीभूत हो जावेंगे।

सृष्टि में देखा जाता है कि जीवित जगत् के अनेक रूप भिन्न-भिन्न देशों में रह सकते हैं और समुद्र के पृष्ठ से भिन्न-भिन्न ऊंचाई पर रह सकते हैं, इसी प्रकार एक काल में हरे-भरे होते हैं तो दूसरे काल में सूख जाते हैं, एक प्रकार की परिस्थिति में बल मिलता हैं वृद्धि होती है तो अन्य प्रकार की परिस्थिति में निर्बलता बढ़ती है और क्षय होता है। चनार का पेड़ कश्मीर में लगभग ५० गज तक ऊंचा खूब फैला हुआ विशाल होता है, परन्तु हरिद्वार के क्षेत्र में ५, ६ गज का भी मुश्किल से हो

सकता है पत्ता भी उस पर मुश्किल से आता है सर्दियों के दिनों में उस की कोंपल मात्र निकलती हैं और वसन्त तथा ग्रीष्म में हरे होने के स्थान में सूख जाता है। इस प्रकार जीवित वस्तुओं अर्थात् प्राणियों के वृद्धि और क्षय में बलवान् या निर्बल होने में परिस्थिति का बड़ा भाग है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार के मानसिक और शारीरिक स्वभाव वाले मनुष्य भिन्न-भिन्न प्रकार के देश, काल और परिस्थिति में रखे जाने पर अपने अन्दर विचित्र प्रकार का मानसिक और शारीरिक परिवर्तन दिखलाते हैं। एक ही जाति के कीड़े जैसे टिड्डे (catter pillers) हरी घास में रहने वाले हरे रङ्ग के होते हैं, सूखी घास में रहने वाले पीले से रंग के होते हैं, सूखी लकड़ियों में रहने वाले काले मटियाले से होते हैं। इस प्रकार जो जहां रहता है वह वहां ही के रंग में रंगा जाता है। इस प्रकार से प्राणियों की रक्षा होती है, अन्य प्राणी उन पर शीघ्र आक्रमण नहीं कर सकते अथवा अन्य परिस्थिति के प्रभाव से वे बचे रहते हैं क्योंकि शीघ्र पहिचाने नहीं जाते। इस प्रकार उन का जीवन स्थिर रहता है क्योंकि परिस्थितियों के शीघ्र-शीघ्र न बदलने से उन के जीवन में परिवर्तन क्रम मन्द पड़ जाता है।

जीवित जगत् का कोई व्यक्ति जब किसी परिवर्तन को ग्रहण करता है तब या तो स्वेच्छा से ग्रहण करता है या बलात्कार से ग्रहण कराया जाता है। दोनों अवस्थाओं में वह या तो स्वयं अनुकूल हो रहा होता है या अनुकूल कराया जा रहा होता है। यह अनुकूलता का नियम (law of adaptation) है जिसके अनुसार परिवर्तन हुआ करता है। स्वेच्छा से ग्रहण

और त्याग तो होता ही है परन्तु अनिच्छा से भी ग्रहण और त्याग होता है। जैसे—एक मनुष्य को मट्ठा अप्रिय है, किसी समय यात्रा में वह भूख से अत्यन्त पीड़ित होता है। कोई भक्त उस से पूछता है—बाबा ! क्यों व्याकुल बैठे हो ? क्या चिन्ता है ? वह पथिक मुख के पास हाथ ले जाकर इशारे से कहता है कुछ खाने को चाहिए। भक्त कहता है अच्छा, और जाकर घर से लोटा भर मट्ठा ले आता है। पथिक पूछता है क्या है ? भक्त कहता है मट्ठा। पथिक पूछता है क्या और कुछ नहीं है ? (क्योंकि पथिक को मट्ठा अप्रिय है)। भक्त उत्तर देता है बस महाराज ! और कुछ नहीं मिल सकता, जो कुछ है सो यही है। वह पथिक अपनी स्थिति से बाधित हुआ अनिच्छा से भी उस मट्ठे को स्वीकार करता है और पी जाता है।

इसी प्रकार रोगी कड़वी दवा पीने में अनिच्छा रखता हुआ भी रोग निवृत्ति के लिए कड़वी दवा पीने के लिए बाधित हुआ उसे पीता ही है।

इस प्रकार अनुकूलता का नियम संसार में सब परिवर्तन करा रहा है। अनुकूलता के नियम से ग्रहण और त्याग जीवित व्यक्ति के सुख दुःख के अनुभव के आधार पर उसकी आवश्यकता को पूरा करने या न करने के अनुसार होता है।

जीवित व्यक्तियों अर्थात् प्राणियों में जागृति(responce) के सम अनुपात में अनुकूलता (adaptation) रहती है। प्राणियों में जागृति (responce) की मात्रा उन में ज्ञानमयी

चेतनसत्ता के विकास पर अवलम्बित है। ज्ञानमयी चेतनसत्ता के विकास के क्रम से प्राणियों की विभिन्न और सुदीर्घ शृङ्खला बन गई है। प्राणी का वह रूप उन्नततम है जिसमें ज्ञानमयी चेतन-सत्ता का अधिकतम प्रकाश है, और वह अवनततम है जिसमें ज्ञानमयी चेतनसत्ता का प्रकाश न्यूनतम है। इन दो कोटियों (extremes) के बीच में प्राणियों की वह अवस्था है जिस अवस्था में ज्ञानमयी चेतनसत्ता के प्रकाश के लिए अनुकूल अवस्था और प्रतिकूल अवस्था तुल्यरूप में रहने के लिए व्यापार कर रही होती हैं। यदि अनुकूलता और प्रति-कूलता को दिशा सूचक योग और ऋण से अथवा positive और negative से सूचित करें तो तुल्यरूपता में भी वैसी ही शृंखला प्रतीत होगी जैसी गणितीय अङ्कों की शृङ्खला में है। गणितीय अङ्कों की अनन्त शृङ्खला अपने समानान्तर, प्रकृति से उत्पन्न हुए उन रूपों की शृङ्खला को सूचित करती है जिस शृङ्खला की प्रत्येक कड़ी में ज्ञानमयी चेतनसत्ता के प्रकाश के लिए अनुकूल अवस्था और प्रतिकूल अवस्था तुल्यरूप में रहने के लिए प्रयत्न कर रही होती हैं। यह तुल्यरूपता अथवा समता और विषमता प्रकृति के जिन सूक्ष्मरूपों में रहती हैं, जिनके आधार पर बाह्यस्थूल शरीर बनता है, वे सूक्ष्मरूप, सूक्ष्मशरीर अथवा लिङ्गशरीर समझने चाहिएं। इन सूक्ष्म शरीरों की त्रिविध गति है—समता की दृष्टि से एक प्रकार की और विषमता की दृष्टि से ऊपर की ओर और नीचे की ओर दो प्रकार की। इस स्थान पर अचानक एक श्लोक स्मरण आता है—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥
॥ मनु ॥

न ऊपर और न नीचे किन्तु मध्य में रहने वाली सूक्ष्म शरीर की गति मनुष्य लोक में होती है। सृष्टि में जिनका उद्देश्य परस्पर मिलकर पूरा हो सकता है उनका परस्पर आकर्षण वा योग होता है और जो मिले हुए परस्पर उपयोगी नहीं रहते उन रूपों का वियोग हो जाता है। यह पारस्परिक सहयोग (mutual cooperation) का नियम है जिसके आधार पर एक एक से मिलता है और दूसरे से नहीं मिलता। सूक्ष्म शरीर जब तक स्थूल शरीर के साथ इस नियम के द्वारा बन्धा रहता है तब तक जीवनकाल कहा जाता है और जब सूक्ष्म शरीर अथवा स्थूल शरीर बाह्य परिस्थिति से प्राप्त हुए बलाबल के अनुसार इतने भिन्न हो जाते हैं कि परस्पर सहयोग नहीं कर सकते तो वे जुदा हो जाते हैं—एक दूसरे को छोड़ देते हैं, इसी का नाम जीवनकाल का अन्त वा मृत्यु है। स्थूल शरीर से पृथक् हुआ सूक्ष्म शरीर अपने पूर्व रूप और परिस्थिति के पारस्परिक प्रभावों के संघर्ष से उत्पन्न हुए जिस नवीन रूप को धारण करता है, वह नवीन रूप जिस स्थूल शरीर के साथ युक्त हो सकता है उसी की ओर उसका अकर्षण हो जाता है और उससे जा मिलता है यह ही नये जीवनकाल का आरम्भ वा पुनर्जन्म होता है। स्थूल शरीर के साथ सूक्ष्म शरीर में वर्तमान यह अनुकूलता सूक्ष्म शरीर में वर्तमान जिस जागृति

(resronce) को सूचित करती है वह जागृति अपना कोई स्थान मध्यम श्रेणी की शृङ्खला में रखती है तो अगला जन्म उसी के अनुसार मनुष्य श्रेणी में होता है। यदि सूक्ष्म शरीर में वर्तमान जागृति में ज्ञानमयी चेतनसत्ता के विकास के प्रतिकूल अवस्था बढ़ गई है तो अगला जन्म मनुष्य श्रेणी से नीचे पशु आदि प्राणियों की किसी श्रेणी में होता है। वह सूक्ष्म शरीर, ज्ञानमयी चेतनसत्ता के विकास के प्रतिकूल, अनेक अवस्थाओं में से जिस किसी अवस्था से युक्त विशेष आकार वाला अपने आपको बना लेता है उसी आकार के अनुकूल प्राणियों की किसी श्रेणी में उस का जन्म होता है। मनुष्य श्रेणी से निचले प्राणियों की श्रेणियों में वर्तमान सूक्ष्म शरीरों में अनुकूल अवस्था और प्रतिकूल अवस्था दोनों विषमरूप से रहती हैं। प्रतिकूल अवस्था का अधिक परिमाण में होना ही इस विषमता का कारण है, अतः जब तक वह प्रतिकूल अवस्था जो संस्कार रूप हैं वृत्ति रूप में ला लाकर भुगत न ली जावे तब तक सूक्ष्म शरीर मनुष्य श्रेणी में नहीं जाता और उन्नति नहीं करता। इसी उपर्युक्त आशय को लेकर मनुष्य श्रेणी से नीचे की प्राणिश्रेणियां भोगश्रेणियां हैं कर्मश्रेणियां नहीं हैं।

जिस प्रकार विषमता के एक पार्श्व को ले कर मनुष्य से निचली प्राणिश्रेणियां भोगश्रेणियां कहलाती हैं इसी प्रकार विषमता के दूसरे पार्श्व को ले कर विचार करने से मनुष्य श्रेणी से ऊपर भी कोई प्राणि श्रेणियां माननी पड़ती हैं और वे भी उसी प्रकार भोग श्रेणियां ही हैं।

जैसे-जैसे सूक्ष्म शरीरों में वर्तमान संस्कारों का चित्रपट

सूक्ष्म शरीर के सामने आता जाता है वैसे-वैसे सूक्ष्म शरीर आकार को धारण करता हुआ उसी के अनुकूल किसी प्राणि श्रेणी के स्थूल देह को धारण करता रहता है। इस प्रकार वह सूक्ष्म शरीर किसी भी एक प्राणि श्रेणी में से निकल कर किसी भी दूसरी प्राणिश्रेणी में जा सकता है, उसके लिए अवनति क्रम या उन्नति क्रम नियत नहीं है कि वह अवनति ही करता चला जाय या उन्नति ही करता चला जाय।

सृष्टि चक्र में वर्तमान प्राणिश्रेणियों में प्रवहमाण वह सूक्ष्म शरीर यदि सर्व संस्कारों से रिक्त नहीं हुआ तो वह प्रलयकाल में भी प्रकृति में लीन नहीं होता। यदि सर्व-संस्कारों से रिक्त हो गया है तो प्रकृति में लीन हो जाता है, परन्तु प्रत्येक सूक्ष्म शरीर का आधारभूत भेदक-भाव या कारण शरीर सूक्ष्म शरीर के अनुकूल भेदकभाव वाला ज्ञानमयी चेतन सत्ता में अविकल भाव से अवश्य रहता ही है वह नष्ट नहीं होता।

२६

मुक्ति

ब्रह्माण्ड में कुछ भी नष्ट नहीं होता। अब इस के विस्तार की कुछ आवश्यकता नहीं है। प्रकृति का त्रिगुणात्मक परिणाम-प्रवाह अनन्त रूपों में बह रहा है। चेतन शक्ति उस परिणाम-प्रवाह के साथ-साथ बहती हुई प्रत्येक परिणाम में अनुगत सी हो रही है। प्रकृति के अनन्त परिणामों में से तमः प्रधान परिणामों में चितिशक्ति के प्रकाश के लिए न्यूनतम अनुकूल

अवस्था होती है और सत्व प्रधान परिणामों में अधिकतम अनुकूल अवस्था होती है। जब चितिशक्ति के प्रकाश के लिए अनुकूलतम अवस्था होती है तब प्रकृति का बन्धन अर्थात् चितिशक्ति के प्रकाश के लिए प्रतिकूल अवस्था अर्थात् तमोगुण, और चञ्चलता विक्षोभ विह्वलता अर्थात् रजोगुण, ये दोनों स्वयमेव शान्त हो जाते हैं। रजोगुण और तमोगुण के शान्त हो जाने से सूक्ष्म शरीर में इनका जो परिणाम है वह भी नहीं रहता। कारण शरीर का स्वरूप शुद्ध-सात्विक अंश के अनुसार हो जाता है। चितिशक्ति के प्रकाश का तारतम्य ही शुद्ध सात्विक-अंश के अनुसार होने वाले कारण शरीरों के तारतम्य का आधार है। कारण शरीरों की उत्कृष्टतम अवस्था रजस् तमस् सम्बन्धी दुःख और अज्ञान रूप परिणामों के अत्यन्त तिरोभाव को सूचित करती है। रजस् तमस् सम्बन्धी परिणाम का तिरोभाव जितना ही अधिक होता है कारण शरीरों में परिवर्तनशीलता भी उतनी ही मन्द हो जाती है। इस परिवर्तनशीलता का वेग जितना मन्द होता जाता है कारण शरीर प्रकृति के रजस् तमोमय स्थूल बन्धनों से उतना ही मुक्त रहने लगता है। कारण शरीर पर आया हुआ प्रकृति का उज्वल सात्विक परिणाम ज्यों-ज्यों धीरे-धीरे लुप्त होता जाता है त्यों-त्यों धीरे-धीरे रजस् तमोमय परिणाम का आवरण आता जाता है। जिस समय विशुद्ध-सत्वा और अविशुद्ध-सत्वा प्रकृति का सम्बन्ध तुल्य हो जाता है उस समय कारण शरीर अपने अनुरूप सूक्ष्म शरीर को ग्रहण कर के कर्म-भूमि में अर्थात् मनुष्य देह में उतरता है।

कारण शरीर की कारण रूपता चितिशक्ति के साथ प्रकृति के जिस क्रियाशील सूक्ष्मतम रूप रजोगुण को लेकर होती है उस सूक्ष्मतम रूप रजोगुण की क्रियाशीलता का परिणाम चितिशक्ति की प्रकाशमय आनन्द-घनता में हो जाने के अनन्तर उस कारण शरीर का भी लय हो जाता है। कारण शरीर का लय चिद्घन में हो जाने पर वह सूक्ष्म शरीर का आवरण लेने के सर्वथा अयोग्य हो जाता है। परन्तु जब तक मुक्ति के विशेष साधनों के द्वारा कारण शरीर का लय चिद्घन में नहीं होता तब तक सूक्ष्म शरीर को धारण करने की उस में योग्यता रहती ही है। परा मुक्ति के लिए कारण शरीर का लय होना आवश्यक है। किन्तु अपरा मुक्ति तो सूक्ष्म शरीर के प्रकृति में लय होने पर ही हो जाती है।

मुक्ति का यह अर्थ नहीं है कि चितिशक्ति और प्रकृति का सम्बन्ध ही सर्वथा और सर्वदा टूट जावे। चितिशक्ति और प्रकृति का सम्बन्ध कभी टूटता नहीं है, क्योंकि दोनों नित्य हैं। सृष्टि में असीम अनादि काल से यदि मेरा सम्बन्ध आज तक प्रकृति से नहीं टूटा केवल सूक्ष्म और स्थूल होता रहा है तो आगे असीम अनन्त काल में टूटने की भी कोई सम्भावना नहीं है। मेरे अधीन केवल इतना ही है कि मैं चिच्छक्ति के प्रकाश से विद्या-बुद्धि को उज्वल कर के अविद्या का नाश करूं और जिस अविद्या के कारण मैं कर्म बन्धन में पड़ा हुआ था अविद्या नाश से उस कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाऊं। प्रकृति का यह परिणाम धर्म (परिवर्तनशीलता) ही मेरे लिए आशा का सञ्चार करता है कि मैं प्रकृति को साम्यावस्था में लाकर चिच्छक्ति के

साथ निर्विशेष कर दूं। इसे निर्विशेष करने में ही मेरी मुक्ति की इतिश्री है।

३०

मुक्ति का साधन

मुक्ति का अर्थ है छूटना। छूटना बन्धन से होता है। बन्धन पांच प्रकार का होता है। मनुष्य के चारों ओर ऐसा आवरण कर दिया जाय जिस को पार कर के उसकी गति न हो सके तो ऐसा आवरण आवरण-बन्धन कहलाता है। यदि मनुष्य को दूर-दूर अपना प्रसार करने की अभिलाषा है तो इस आवरण-बन्धन के होने से दुःख होता है। यदि उस को किसी प्रकार की अभिलाषा नहीं है वह शान्तात्मा हो चुका है तो उसे इस आवरण-बन्धन से कुछ दुःख नहीं होता। आवरण-बन्धन मनुष्य के स्वरूप में कुछ भेद नहीं डालता, जैसे सूर्य के आगे आया हुआ बादल सूर्य के स्वरूप में कुछ भेद नहीं डालता, मनुष्य की अशान्तता मनुष्य को दुःखदाई होती है आवरण-बन्धन नहीं। यदि शान्ति हो तो कितनी ही काल-कोठरियों में बन्द करने से भी कुछ नहीं होता, वे उस का कुछ बिगाड़ नहीं सकतीं। यह एक प्रकार का बन्धन है।

दूसरे प्रकार का बन्धन ऐसा है जो किन्हीं व्यक्तियों के साथ रहने मात्र से होता है। जिन के साथ रहता है उन्हीं की श्रेणी में वा उन्हीं के सम्प्रदाय में उसकी गणना होती है। यह साथ रहने का बन्धन सहचर बन्धन है। यदि साथ रहने से

मनुष्य की आत्मा साथीपन को स्वीकार करे तो इस अभिमान के कारण अवश्य ही वह सहचर-बन्धन बन्धन हो जाता है। साहचर्य सम्बन्ध में पारस्परिक रुचि (interest) पैदा होना आवश्यक है। यदि रुचि उत्पन्न हो गई तो मनुष्य उस श्रेणी को वा सम्प्रदाय को नहीं छोड़ना चाहता। रुचि हो जाने पर बन्धन छूटे तो दुःख होता है। परन्तु यदि मनुष्य जिन के साथ रहे उन्हें अपनी कामनाओं की पूर्ति का साधन न बनावे निरपेक्ष-भाव से रहे तो ऐसे मनुष्य के लिए सहचर-बन्धन बन्धन नहीं रहता, वह निरपेक्ष-भाव के कारण उस सहचर-बन्धन से मुक्त हो जाता है।

तीसरा बन्धन ऐसा है जिस में मनुष्य व्यक्तियों के साथ निरपेक्ष-भाव से रहता हुआ भी जात्यभिमान, कुलाभिमान, देशाभिमान, सम्प्रदायाभिमान आदि अभिमानों को ग्रहण कर के अपने प्रयोजनों को सिद्ध करता है। इन अभिमानों के द्वारा प्रयोजनों की सिद्धि होने में इन सम्प्रदाय आदि में परस्पर संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। संघर्ष उत्पन्न हो जाने से प्रयोजनों की सिद्धि में बाधा उपस्थित हो जाती है। इस बाधा के उपस्थित हो जाने से जाति, कुल, देश, सम्प्रदाय आदि का अभिमान दुःखदाई बन्धन प्रतीत होने लगता है। यह बन्धन संसर बन्धन है, जैसे पृथक्-पृथक् मणियों में पिरोया हुआ सूत्र उन मणियों को एकसूत्र में बांधता है, वैसे ही यह संसर-बन्धन पृथक्-पृथक् व्यक्तियों को किसी साजात्य सम्बन्ध से एकता में बांधता है। मनुष्य निरन्तर दीर्घकाल तक शुद्ध आत्म-भाव के चिन्तन से जब इस मिथ्याभिमान को दूर कर देता है तब वह

इस संसर-बन्धन से छूट जाता है। संसर-बन्धन से छूटने पर उसे जाति, कुल, देश, सम्प्रदाय आदि किसी का अभिमान वा बन्धन नहीं रहता।

जब प्रयोजन वश मनुष्य अपने जैसे बहुतों को चुन-चुन कर उन को एक समूह में बांधता है तब उन की चिति अर्थात् चयन हो जाता है। इस चिति का प्राण वही है जिसने चिति बनाई है। उसी को चिति सम्भालनी पड़ती है। उसके साथ अपने आपको बांधना पड़ता है। यदि उस का अभिमान न करके उस के साथ अपने आपको चयन कर्ता न बांधे तो वह चिति टूट जावे नहीं रह सके। किसी बड़े प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए मनुष्य अपने गले इस चिति-बन्धन को डालता है। ऐसी-ऐसी अनेक चितियों के पारस्परिक संघर्ष से जो बाधा उपस्थित होती है उस से व्याकुल होकर चिति का संभलना भी कठिन हो जाता है। चिति टूटती है। सम्बद्ध हुए मनुष्य बिखर जाते हैं। चिति रूप में सम्बद्ध मनुष्यों का बिखरना मानो चयन कर्ता की मृत्यु है। उसका चयन गया तो वह क्या रहा, संसार में उसकी कोई स्थिति न रही। कैसा भी सुदृढ चिति बन्धन वा संगठन हो अन्त में दुःख दाई होता है। श्रेयस्कर मनुष्य अपने आत्यन्तिक सुख की अप्राप्ति देखता हुआ चिति बन्धन से मुक्त होता है। यह चिति-बन्धन चतुर्थ प्रकार का बन्धन है।

पांचवें प्रकार का बन्धन ग्रन्थि-बन्धन है। ग्रन्थि-बन्धन में मनुष्य के हृदय का दूसरे व्यक्ति के हृदय के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है। दोनों व्यक्तियों के प्राणों में ग्रन्थि पड़

जाती है। एक के दुःख सुख का संक्रमण दूसरे के हृदय में होता रहता है। ग्रन्थि बन्धन अत्यन्त कष्टप्रद है। यह आत्म-स्वरूप से ही मनुष्य को च्युत कर देता है। ग्रन्थि बन्धन में बंधा हुआ अपने स्वरूप को भी भूल जाता है। जिस के साथ उसका बन्धन होता है मृत्युकाल में उसके वियोग में अत्यन्त क्लेशित होता है। जो मनुष्य वैराग्य का अभ्यास करता है वही इस बन्धन से मुक्त होता है।

इस प्रकार इन पांचों बन्धनों से छूट जाना मुक्ति है। जिन-जिन कारणों से ये बन्धन होते हैं उन-उन कारणों को छोड़ देना मुक्ति का साधन है। आत्मा का स्वरूप शुद्ध प्रकाश है। आत्मा के साथ अशुद्धि और अप्रकाश (अविद्या) का सम्बन्ध हो नहीं सकता, क्योंकि दोनों विरुद्ध स्वभाव हैं। सम्बन्ध होते ही अशुद्धि और अविद्या का नाश हो जावेगा वे नहीं रह सकेंगे। आत्मा के ऊपर आवरण होता है जैसे सूर्य के आगे बादल। जैसा-जैसा आवरण होता है वैसा-वैसा आत्मा का तिरोभाव होता है और वैसा-वैसा ही उसका प्रकाश भासता है। कर्म की ओर मनुष्य की वृत्ति होती है तो उसके लिए भी उत्साह आत्मा से ही मिलता है, और ज्ञान की ओर होती है तो उसके लिए भी उत्साह आत्मा से ही मिलता है। इस प्रकार आत्मा का प्रकाश या तो कर्म प्रवर्तक होता है या विद्या प्रवर्तक होता है। इन से अतिरिक्त किसी तीसरे का वह प्रवर्तक नहीं होता। विद्या और कर्म की प्रवृत्ति का हेतुभूत दो प्रकार की बुद्धि होती है। एक बुद्धि वह जो आत्मप्रकाश को विद्या के लिए प्रवर्तक बनाती है, और दूसरी बुद्धि वह जो आत्मप्रकाश को कर्म के लिए प्रवर्तक बनाती है। आत्मप्रकाश को विद्या के

लिए प्रवर्तक बनाने वाली बुद्धि का नाम विद्या बुद्धि है और आत्मप्रकाश को कर्म के लिए प्रवर्तक बनाने वाली बुद्धि का नाम अविद्या बुद्धि है।

संसार में मनुष्य जितने कर्म करता है उन्हें या तो अपेक्षा बुद्धि से करता है, या उपेक्षा बुद्धि से करता है। किसी वस्तु पर हम दृष्टिपात करते हैं वा रस्ते में चलते हुए अनेक वस्तुओं पर दृष्टिपात होता है। केवल दृष्टिपात करने वा होने मात्र से वस्तु का ग्रहण नहीं होता, जब तक मन उसको ग्रहण न करे। मन का वस्तु को ग्रहण करना मनुष्य की बुद्धि पर निर्भर है। यदि मन का सम्बन्ध उपेक्षा बुद्धि के साथ है तो मन वस्तु को ग्रहण नहीं करेगा, और यदि मन का सम्बन्ध अपेक्षा बुद्धि के साथ है तो मन वस्तु को ग्रहण करेगा। अपेक्षा बुद्धि के साथ मन का सम्बन्ध होने पर ही विषय ग्रहण करने में मनोयोग होता है। विषय के साथ मनोयोग होता है तो विषय का ग्रहण होता है। विषय के साथ मनोयोग नहीं होता तो विषय का ग्रहण नहीं होता है। गृहीत हुआ विषय चित्त पर अपना संस्कार छोड़ता है। मनुष्य की प्रकृति में सत्व, रज, तम में से जिस गुण का प्राबल्य होता है उसी गुण के अनुसार संस्कार उद्बुद्ध होता है और फिर बुद्धि को प्रेरणा मिलती है. तब बुद्धि के साथ मनोयोग होकर वह इन्द्रियों के द्वारा पुनः विषय ग्रहण में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार इस बहिर्मुखता का कारण अपेक्षा बुद्धि है। इसी के कारण शुद्ध प्रकाशमान आत्मा पर संस्कारों का आवरण आता है जिससे रजस्तमोमय-पटल स्थूल होकर आत्मा के विद्या-भाग को आवृत कर लेता है, उसको दबा देता है। आत्मा का प्रकाश

रजस्तमोमय-पर पड़ता हुआ तथा रागद्वेषात्मक संस्कार-वासना को उत्थित करता हुआ मनुष्य को कर्म में लगाये रखता है और अशान्त रखता है। अशान्त इसलिए कि विषय ग्रहण के कारण क्षण भर के लिए जो आत्म-ज्योति का प्रकाश होता है वह विद्युत् की न्याईं चमक कर शान्त हो जाता है और फिर वैसा ही अन्धकार छा जाता है। स्थिर प्रकाश की प्राप्ति के लिए प्रकाश करने वाले रजस्तमोमय पटल को हटाना पड़ेगा। आनन्दमय स्थिर प्रकाश की प्राप्ति की अभिलाषा ही मनुष्य को बहिर्मुख से अन्तर्मुख करती है, राग-द्वेष से वैराग्य की ओर झुकाती है और प्रवृत्ति मार्ग से निवृत्ति मार्ग की ओर प्रेरणा करती है, अपेक्षा बुद्धि के त्याग और उपेक्षा बुद्धि के ग्रहण में यत्नवान् करती है। उपेक्षा बुद्धि के कारण विषय ग्रहण के प्रति आकांक्षा निवृत्त हो जाती है। आकांक्षा निवृत्ति के कारण रागद्वेषात्मक वृत्तिशान्त हो जाती है। रागद्वेषात्मक वृत्ति के शान्त हो जाने से रजस्तमोमय आवरण-पटल को खुराक मिलनी बन्द हो जाती है। वह पटल निर्बल होकर निष्प्राण हो जाता है। इस विरोधी अंश के निष्प्राण होने से सत्वांश का प्राबल्य हो जाता है। सत्वांश के प्राबल्य से विद्या-बुद्धि चमक जाती है। आत्मा के प्रकाश का विद्या-बुद्धि के साथ योग होने पर स्थिर रूप से ज्ञानदीप प्रकाशित हो जाता है। इस ज्ञानाग्नि के कारण अज्ञान-पटल निर्मूल हो जाता है। क्लेश क्षीण हो जाते हैं। कर्म-प्रवर्तक संस्कार-बीज दग्ध हो जाते हैं। चिच्छक्ति को स्वरूप प्राप्ति होती है। क्रमशः चितिशक्ति को आवरण करने वाले बलों की ग्रन्थियां टूटते-टूटते सब बल चिति-

शक्ति में लीन हो जाते हैं। इस प्रकार मुक्तावस्था सम्पन्न होती है। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए, उपर्युक्त प्रक्रिया में स्थिर शान्त अवस्था को प्राप्त करने की अभिलाषा मुख्य साधन है। यदि स्थिर शान्ति की अभिलाषा जागृत नहीं हुई है तो, क्षणिक शान्ति (विषयानन्द) से सन्तुष्ट हुआ मनुष्य मुक्ति के साधन में प्रवृत्त नहीं हो सकता। इसलिए स्थिर शान्ति की अभिलाषा से अन्तर्वृत्ति होकर एक-एक सम्बन्ध का परित्याग करते-करते सर्व सम्बन्धों का परित्याग कर देना यही मुक्ति का परम साधन है।

इति शुभम्

वैदिक-सूक्तयः

—:o:—

सत्येन पन्था विततो देवयानः।
देवों के जीवन का मार्ग सत्य से बना होता है।

❀

सत्यान्न प्रमदितव्यम्।
सत्य से प्रमाद मत कर।

❀

सत्यं वद।
सत्य बोल।

❀

सत्येनोत्तभिता भूमिः।
भूमि पर रहने वाले प्राणी सत्य पर टिके हुए हैं।

❀

नास्ति सत्यात् परो धर्मः,
नानृतात्पातकं परम्।
सत्य से बढ़ कर कोई धर्म नहीं,
झूठ से बढ़ कर कोई पाप नहीं।

लेखक की रचनाएं

—:o:—

प्रकाशित रचनाएं :

१ जल चिकित्सा—प्रकाशक, गुरुकुल कांगड़ी विश्व-विद्यालय, हरिद्वार ।

२ अग्निहोत्र—प्रकाशक, गुरुकुल कांगड़ी विश्व-विद्यालय, हरिद्वार ।

३ सन्ध्या—प्रकाशक, गुरुकुल सोनगढ़, सौराष्ट्र ।

४ Theory of Magic.

५ राष्ट्रनिर्माण में गुरुकुल का स्थान, भाग १ । —प्रकाशक, गुरुकुल झज्झर, रोहतक ।

६ सत्य-पथ—प्रकाशक, आर्य-वानप्रस्थ आश्रम, ज्वालापुर, ज़िला सहारनपुर ।

अप्रकाशित रचनाएं :

१ राष्ट्रनिर्माण में धर्म का स्थान, भाग २ ।

२ राष्ट्रनिर्माण में अर्थ का स्थान, भाग ३ ।

३ राष्ट्रनिर्माण में काम का स्थान, भाग ४ ।

४ राष्ट्रनिर्माण में मोक्ष का स्थान, भाग ५ ।

५ भगवद्गीता से जीवन निर्माण ।

६ उपनिषद् व्याख्यान-माला ।

७ सन्ध्या योग वा ध्यान योग ।